वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव के अन्तरंग शिष्य स्वामी शारदानन्दजी द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता पर दिये गये विभिन्न भाषणों का संग्रह है। ये भाषण कलकत्ता शहर में विभिन्न स्थानों पर दिये गये थे। गीता-शास्त्र की महिमा से कौन अपरिचित है? व्यक्तिगत जीवन में, सामाजिक जीवन में, यहाँ तक कि राष्ट्रीय जीवन में भी गीता की उपादेयता महती है। अज्ञानता के अन्धकार में, जडविज्ञान के कोलाहल में, अशान्ति की उत्ताल तरंगों में हमें आज जिस बात की आवश्यकता है, वह है गीता के शाश्वत उपदेशों को यथार्थ रूप से हृदयंगम कर कर्म-जीवन में उनकी परिणति।

स्वामी शारदानन्दजी हिन्दू-शास्त्रों के एक महान् आचार्य थे। उनकी दिव्य आध्यात्मिक प्रतिभा की झलक हम उनके इन भाषणों में देख पाते हैं, जो इस सत्य की परिचायक है कि उनके स्वयं के जीवन में कितनी अद्भुत रीति से गीता के उपदेश पुंजीकृत होकर प्रस्फुटित हो गये थे। उनके स्वयं ही आत्मदर्शी होने के कारण, इन भाषणों की रोचकता अपने ही ढंग की है, एवं प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूति ही इनकी नींव है, इनकी पार्श्वभूमि है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये भाषण केवल शब्दराशि ही नहीं हैं वरन् ये दिव्य आध्यात्मिक स्रोत हैं जिनमें अवगाहन कर मनुष्य अपने जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

प्रचलित मत-मतान्तरों के बीच स्वामी शारदानन्दजी ने यह दिखा दिया है कि गीता किस प्रकार उन सभी पथों का समन्वय-स्वरूप है, जो हमें ईश्वरदर्शन के लिये सहायक हैं। इस समन्वय-सिद्धान्त का दिग्दर्शन कराने के लिये उन्होंने स्थान स्थान पर अपने गुरुदेव, सर्व-धर्म-समन्वय के मूर्तस्वरूप भगवान श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों की सहायता ली है।

स्वामी शारदानन्दजी के गीता पर भाषणों के अतिरिक्त, इस पुस्तक में सांख्य, वेदान्त, आप्त-पुरुष, अवतारवाद इत्यादि विषयों पर उनके हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी कुछ लेख एवं भाषण भी सम्मिलित कर दिये गये हैं, और इससे हमारा विश्वास है कि पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

हम श्री नृसिंहवल्लभजी गोस्वामी, शास्त्री, वृन्दावन के बडे आभारी हैं जिन्होंने मूल बंगला ग्रन्थ से प्रस्तुत पुस्तक का अनुवाद किया है। भाषा एवं भाव दोनों ही दृष्टिकोणों से उनका यह अनुवाद सफल रहा है।

हम डॉ श्री महादेवप्रसादजी शर्मा, एम ए, डी लिट्, के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं जिन्होंने इस पुस्तक के कार्य में बहुमूल्य सहायता प्रदान की है।

हमें आशा है, पाठक इन उद्बोधक भाषणों तथा लेखों द्वारा अत्यधिक लाभान्वित होंगे।

नागपुर,
दि १-१-१९५२

प्रकाशक

अनुक्रमणिका

स्वामी शारदानन्द

गीतातत्त्व

प्रथम अध्याय

परिचय

(बंगला मार्गशीर्ष २०, १३०९ साल में विवेकानन्द समिति, कलकत्ता में प्रदत्त वक्तृता का सारांश ।)

गीता के प्रथम तथा द्वितीय अध्याय के विषय पर मैं आज बोलूँगा। हम सभी जानते हैं कि हमारे देश में गीता का कितना आदर है, क्योंकि हिन्दू धर्म की सारभूत बातें गीता में निबद्ध हैं। गीतामाहात्म्य में इस विषय का एक सुन्दर श्लोक है —

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।"

सब उपनिषदें मानो गो-स्वरूपा हैं। श्रीकृष्ण उनके दुहने वाले हैं। अर्जुन बछड़े के सदृश हैं। बच्चे के न होने से जैसे गाय दूध नहीं देती, उसी प्रकार अर्जुन के प्रश्न के न होने से श्रीकृष्ण का शास्त्रोपदेश तथा गीतारूप दूध की उत्पत्ति न होती। इस दूध को पीनेवाले कौन हैं? सुधी अर्थात् पण्डित लोग। पण्डित का अर्थ विवेकी जन से है।

हमारे देश में आजकल जिन्होंने दो-चार ग्रन्थों को पढ़ा है, जो दो-चार बातें सजाकर कह सकते हैं, उन्हीं को पण्डित कहा जाता है। किन्तु गीता कहती है कि जो केवल मुँह से लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं, वे पण्डित नहीं। जिन लोगों ने जीवन में सत्य को प्रत्यक्ष किया है, जिनको अपरोक्षानुभूति अर्थात् इन्द्रियातीत पदार्थ के ज्ञान की उपलब्धि हुई है, असत् से सत् को पृथक् करके समझने में जो समर्थ हैं, वे ही पण्डित हैं। सुना जाता है कि एक प्रकार का हंस होता है, जो कि दूध के साथ जल मिले रहने पर भी केवल दूध को अलग करके पी सकता है। उसी प्रकार इस सत्यासत्य-मिश्रित संसार में जो असत् को छोड़कर सत् को ग्रहण कर सकता है, वही पण्डित है। गीता को समझने और समझाने में वही समर्थ है।

गीता पर अनेकों ने अनेक प्रकार की टीकायें की है। हमारे देश में तीन श्रेणियों के आचार्यों ने अपने अपने पक्ष का समर्थन करते हुए गीता का अर्थ किया है। अद्वैतवादी आचार्य शंकर ने अद्वैतमत का समर्थन कर गीता की टीका की है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज तथा द्वैतवादी मध्वाचार्य भी उसी प्रकार अपने अपने मतानुसार टीका कर गये हैं। तुम्हें इतनी टीकाएँ देखना आवश्यक नहीं। तुम सभी का मन अभी किसी विशेष मत की ओर न बहकर एक स्थान पर ही अवस्थित है। अपने अपने स्वाभाविक ज्ञान से जिस अर्थ की उपलब्धि हो, वही पर्याप्त है। और उस प्रकार से जिन जिन स्थलों का अर्थ-बोध न हो, उन उन स्थलों को समझने के लिए और एक उपाय है। जिन लोगों ने महाभारत पढ़ा है, वे समझ सकते हैं कि भगवान्

श्रीकृष्ण का जीवन ही इस गीता-शास्त्र का प्रधान टीकास्वरूप है। हम तथा दूसरे लोग देहधारी होने पर भी जन्म-मृत्यु से रहित अविनाशी आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं —इस ज्ञान को सर्वदा स्मरण रखना, अपनी लाभ-हानि की ओर न देखकर सदा कर्तव्यपरायण बनना, मनुष्य-जीवन के क्षणभंगुर सुख-दुःख में अविचलित रहना आदि जो शिक्षाएँ गीता में निबद्ध हैं, वे सभी भगवान् श्रीकृष्ण के स्वकीय जीवन के प्रत्येक कार्य में आचरित देखने में आती हैं। अतः गीता की कोई बात यदि समझ में न आती हो तो भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन का अनुसन्धान करो, उसी से यथार्थ अर्थ समझ में आ जायेगा।

एक और बात यह है कि वेद के उपनिषद् भाग में आत्मा, ईश्वर, जीव तथा जगत् के सम्बन्ध में जो सत्य लिपिबद्ध हैं, ठीक वे ही इस अल्पाकार गीता में देखने को मिलते हैं। कहीं कहीं तो उपनिषद् की भाषा तक देखोगे। इसलिए गीता उपनिषदों में गिनी जाती है एवं गीता का दूसरा नाम गीतोपनिषद् है। गीतामाहात्म्य में गीतापाठ का विशेष फल वर्णित है। एक श्लोकार्ध कहता हूँ—

"गीताध्यायसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत्।"

"जो नियत रूप से गीतापाठ करता है, वह दूसरे जन्म में मनुष्यत्व को प्राप्त होता है।" अन्य किसी हीन योनि में उसका जन्म नहीं होता। यह कोई साधारण बात नहीं है। मनुष्यत्व को प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। जिसमें मनुष्यत्व है, उसके लिए ज्ञान कहो, भक्ति कहो, अथवा दूसरा कोई विषय कहो, प्राप्त करने में विलम्ब ही कितना लगता है! शङ्कराचार्य ने कहा है—

" दुर्लभ त्रयमेवैतत् देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्व मुमुक्षुत्व महापुरुषसंश्रय ॥ "

जगत् में इन तीनों वस्तुओं को एक साथ प्राप्त करना देवता के अनुग्रह बिना नहीं होता । प्रथम — मनुष्यत्व, द्वितीय — मुमुक्षुत्व अर्थात मुक्त होने की इच्छा । शरीर का सुख, मन का सुख न चाहकर किसी महान् उद्देश्य को स्थिर रूप से जीवन में धारण करना चाहिये । स्थिर, अविचलित एक उद्देश्य के रहने से क्रमशः वह भगवान् की ओर अवश्य ले जायेगा । साधारण मनुष्य अपने सुख की प्राप्ति में लगा हुआ है । जीवन में किसी विशेष उद्देश्य को लेकर कौन चलता है ? तृतीय — महापुरुष-संश्रय । जिसने किसी महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने जीवन का गठन किया है, ऐसे महापुरुष का सत्सङ्ग-लाभ करना तथा उससे मानवजीवन के उद्देश्य को सुनना इसको दुर्लभ क्यों कहा गया है ? धर्म की बातें, अच्छी बातें तुम भी कहते हो, मैं भी कहता हूँ किन्तु उससे कोई कार्य क्यों नहीं होता ? हम लोगों की बातों में शक्ति नहीं है , क्योंकि वे हमारे हृदय की बातें नहीं हैं । हम लोगों के मन और वाणी में अन्तर है । हम सांसारिक सुख के लिए लालायित हैं, पर त्याग की बातें करते हैं । हमारी कोरी बातों से कैसे काम निकल सकता है ? जिस पुरुष ने महान् उद्देश्य से अपने जीवन का गठन किया हो, जिसके मन और वाणी में अन्तर न हो, उसकी प्रत्येक उक्ति मानो भीतर का एक द्वार-सा खोल देती है, मोह के आवरण को हटा देती है । महापुरुषों की वाणी में विशेष शक्ति निहित है । परमहंसदेव* की उक्ति में कितनी शक्ति है ! सहस्रों वर्ष

* भगवान श्रीरामकृष्ण—स्वामी विवेकानन्दजी के गुरुदेव ।

बीत गये, फिर भी ईसा या बुद्धदेव की वाणियों में अभी तक कितनी शक्ति है। किन्तु हम तुम यदि उन्हीं बातों को कहें तो भी किसी के हृदय में असर नहीं होगा। ज्योंही तुम किसी महान् उद्देश्य को लेकर अपने जीवन का निर्माण करोगे, त्योंही तुम्हारी वाणी की भी शक्ति बढ़ जायेगी। तब कोई बात कहने से वह लोगों के हृदय में चुभेगी। जिस वस्तु की शक्ति बढ़ाने की चेष्टा करोगे, उसी की शक्ति बढ़ेगी। मन की शक्ति बढ़ाने की चेष्टा करो, तो मानसिक शक्ति बढ़ेगी; इसी प्रकार वाणी की शक्ति बढ़ाने चेष्टा करो, तो किसी विषय में विशेष रूप से बोलने की क्षमता बढ़ेगी। वेदान्त का कथन है कि इस मन ने ही जगत् की सृष्टि की है। मन की शक्ति अद्भुत है। यूरोप के जड़वादी भी इस बात को स्वीकार करते हैं। इतिहास के पढ़ने से भी मन की अद्भुत क्षमता का परिचय मिलता है। फ्रांस देश की रानी मेरी एण्टॉइनेट अपूर्व रूपवती थीं। उनको एवं उनके पति को पैरिस नगर के लोगों ने विक्षुब्ध होकर एक दिन जेल में डाल दिया। दूसरे दिन प्राणदण्ड देना निश्चित किया। सुबह देखा गया कि रानी के सिर के सारे केश सफेद हो गये हैं। एक रात की भयङ्कर चिन्ता ने उनको एकदम बूढ़ी बना डाला। मन की इतनी शक्ति है! मन यदि तीव्र भाव से कोई वस्तु चाहे तो वह अवश्य मिलेगी। हम सम्पूर्ण मन के साथ कोई वस्तु माँग नहीं पाते, इसलिए वह नहीं मिलती। हमारा मन, जैसे कि परमहंसदेव कहा करते थे, सरसों की पोटली की तरह है। पोटली खुलकर सरसों के दाने यदि एक बार बिखर जायँ, तो उन सब दानों को फिर से एकत्रित करना

असम्भव है। घर के असबाब के कोने में, दीवारों की दरारों में ऐसी जगह पहुँच जायेंगे कि हजारों चेष्टाएँ करने पर भी वे बिखरे हुए दाने फिर नहीं मिलेंगे। उसी प्रकार मन के एक बार कुछ रूप में, कुछ रस में, कुछ धन-मान इत्यादि सांसारिक विषयों में बिखर जाने से फिर उसको पूर्ण रूप से समेटना असम्भव है। इसीलिए परमहंसदेव बालकों से इतना अधिक प्रेम करते थे, क्योंकि बच्चों का मन बिखरा हुआ नहीं होता। सत्यरूपी बीज उन सब के मनों में पड़ते ही शीघ्राति-शीघ्र अंकुरित हो उठता है।

गीता के प्रत्येक अध्याय को एक एक योग की संज्ञा दी गई है। योग का अर्थ है मिलाकर एक कर देना—भगवान् की ओर ले जाना। जैसे, प्रथम अध्याय को विषादयोग कहते हैं। विषादयोग क्यों कहा गया? इस कारण से कि अर्जुन का विषाद ही उनको भगवान् की ओर ले जाने का कारण बना। इसलिए विषादयोग है। इसी प्रकार सांख्ययोग, कर्मयोग, सन्यासयोग इत्यादि हैं।

हम कह सकते हैं कि गीता का उपदेश एकमात्र अर्जुन के लिए ही दिया गया था। उससे हमारा क्या सम्बन्ध है? न तो हम युद्ध में जा रहे हैं और न महावीर अर्जुन के जीवन से हम जैसे साधारण लोगों के जीवन की किसी अंश में समानता ही है। अतः अर्जुन जैसे महान् अधिकारी को लक्ष्य कर दिया हुआ गीता का यह उपदेश हमारे किस उपकार में आ सकता है? उत्तर में कहा जा सकता है कि यद्यपि अर्जुन हम लोगों से सौगुना बड़े हैं, फिर भी वे हमारे जैसे ही मनुष्य थे और हम भी मनुष्य हैं। उनके जीवन में जैसे मोह कभी

कभी उत्पन्न हुआ था, हम भी पग पग पर वैसे ही मोह-जाल में फँस जाते हैं, हम लोगों को भी उनकी तरह सत्य के लिए नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं के विरुद्ध खड़ा होना पड़ता है। उनकी तरह हम लोगों के भी भीतर-बाहर जीवन-सग्राम चल रहा है। इस-लिए हमें भी गीता के पढ़ने से शिक्षा मिलती है, शान्ति मिलती है, जीवन-समस्या का एक अपूर्व समाधान मिलता है। देखा गया है कि गीता-प ठ से कितने ही पापी-तापियों के अनुताप के आँसू गिरे हैं तथा उच्चादर्श की ओर उनका जीवन प्रवाहित हुआ है।

एक बात और है। क्या गीता महाभारत में प्रक्षिप्त है? कोई कोई पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि गीता प्रक्षिप्त है। हमारे देश में भी बहुत से लोग उसी बात को मान बैठे हैं। वे कहते हैं कि भारत-वर्ष के प्राचीन काल का न कोई इतिहास है, न कभी था। अतः कुरुक्षेत्र-युद्ध के पूर्व उस प्रकार का एक प्रकाण्ड दर्शन-सग्रह वास्तव में उपदिष्ट हुआ था, यह बात पूर्णतया युक्ति-विरुद्ध है। किसी विषय पर विश्वास करने से पहिले वह सम्भव या असम्भव है, यह तो समझना होगा? इसका उत्तर यह है कि पहले उनके देश भारत की तरह प्राचीनता को तो प्राप्त करें, तब देखा जायेगा कि उन लोगों का भी कितना इतिहास बचता है। भारत कितना प्राचीन है! कितने ही विप्लव हो गये है। कितनी बार सब कुछ ध्वस हो चुका है और फिर निर्माण भी कितनी ही बार हुआ है। यूरोप इन सब बातों को कैसे जान सकेगा? यूरोप तो कल का है। अभी तक देखा जाता है कि कितने ही युग पूर्व समय समय पर भारत से जो तत्व प्रकाशित हुए, यूरोप में

उन तत्वों का प्रकाश अब हो रहा है। इसी से स्पष्ट है कि भारतवर्ष एक समय कितना उन्नत था। इस भारत की तरह उदारता भी कहाँ है? हमारे नीतिशास्त्र का कथन है कि सत्य को चाण्डाल से भी सीखो, क्योंकि ज्ञान ही भगवान् है, अतः पवित्र है। जहाँ ज्ञान है, वहीं ऋषित्व है। वहाँ से ही उस ज्ञान को लो। गीता भी कहती है—

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।'

'ज्ञान समग्र कर्मों को भस्मीभूत कर देता है।'

एक बार उस ज्ञान के उदय होने पर फिर कोई कु-वस्तु नहीं रह पाती। परमहंसदेव कहा करते थे कि एक बार जिसने मिश्री खाई है, उसके मुँह 'शीरा' (गुड़ विशेष) कैसे अच्छा लग सकता है?

धर्म और दर्शन भारत के प्राणस्वरूप हैं। हमारे देशवासियों के अस्थि-मज्जा तथा प्रत्येक कार्य में इसका स्पन्दन अभी तक मिलता है। तब युद्धोद्योग से पहिले इस प्रकार का शास्त्रोपदेश नहीं हो सकता, इस विषय का विशेष प्रमाण जब तक न मिले, तब तक क्यों हम अपने अति प्राचीन जातीय विश्वास को त्यागकर तुम्हारी बात मानें? साथ ही गीता के वक्ता स्वय ईश्वरावतार श्रीकृष्ण हैं। हम तुम जैसे साधारण पुरुषों से जो कार्य सम्भव नहीं, उन जैसे महापुरुषों से वह नितान्त सम्भव है, एव यह भी समझना चाहिए कि महाभारत के अन्यान्य स्थलों की भाषा के साथ गीता की भाषा की ऐसी कोई विषमता भी देखने में नहीं आती, जिससे कि तुम्हारी बात मान ली जाय। जिन्होंने साधु-संग किया है, वे समझ सकते हैं कि ससार में हम जिसको घोर विपत्ति कहते हैं, साधु उसमें अविचलित रहकर महान् तत्वों का उपदेश दिया करते

हैं। इसको हमने प्रत्यक्ष देखा है। परमहंसदेव भयानक रोगग्रस्त हुए। छः महीने तक भोजनादि प्रायः बन्द रहा। किन्तु उनके साथ रहनेवालों में महान् आनन्द का प्रवाह बहता रहा। अत्यन्त गूढ़ साधन, सांसारिक कूट प्रश्नों की मीमांसा तथा निरवच्छिन्न आनन्द प्रदान कर उन्होंने सबको मुग्ध कर रखा। रोग, दुःख या कष्ट का नाम तक नहीं था। अर्जुन स्वयं भगवान् के निकट थे। ज्ञान की बातों को समझाने में उनको समय ही कितना लगा? अतः यह प्रक्षिप्त नहीं है। यदि कहो —— इन सबके अतिरिक्त गीता का एक आध्यात्मिक अर्थ है, और वह यह कि संसार-क्षेत्र में इन्द्रियों के साथ युद्ध, खाद्य-संग्रह का युद्ध, ऐसे न जाने कितने ही युद्ध मनुष्य को दिन-रात करने पड़ते हैं, न विराम है और न शान्ति है, और इन संग्रामों में विजयी होकर मानव किस प्रकार से जीवन के सार उद्देश्य को प्राप्त करेगा, इस विषय का विशेष समाधान करना ही गीता का अभिप्राय है —— तो अच्छी बात है, ऐसा विश्वास करना चाहो तो कोई आपत्ति नहीं।

मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि गीता को उपनिषदों में स्थान दिया जाता है। बहुत से लोग स्नानादि से निवृत्त होकर प्रतिदिन कम से कम एक अध्याय गीता का पाठ करते हैं। वे गीता के प्रत्येक श्लोक को मंत्र जैसा पवित्र समझते हैं। मंत्र के जिस प्रकार ऋषि, देवता, छन्दादि हैं, वैसे ही गीता में भी हैं। गीता के ऋषि वेदव्यास हैं, क्योंकि उन्होंने ही मंत्र का दर्शन किया। (ऋषि शब्द का अर्थ अतीन्द्रियदर्शी से है।) पहिले उन्होंने देखा, फिर सबके लिए उस विषय को श्लोकों में निबद्ध किया। उनके ही समीप मंत्र प्रथम प्रकाशित

हुआ था, इसलिए ऋषि शब्द का अर्थ, अंग्रेजी में जिसको Author (ग्रन्थकार) कहा जाता है, वही है। प्रत्येक मंत्र के जैसे ऋषि (अर्थात् रचयिता), देवता (अर्थात् जिस विशेष विषय को लेकर मंत्र की रचना हुई है) तथा छन्द (अर्थात् जिस प्रकार के पदविन्यास से मंत्र की भाषा को लिपिबद्ध किया जाता है) होते हैं वैसे ही बीज भी रहता है। गीता में भी ऐसा ही है। बीज से जैसे वृक्ष की उत्पत्ति होती है, वैसे ही ग्रन्थ में भी एक ऐसा विषय रहता है, जिसका अवलम्बन या विस्तार करके बाकी अंश लिखा जाता है। गीता का बीज-स्वरूप वह विषय क्या है?

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।"

अर्थात् 'जिसके लिए शोक नहीं करना चाहिए, उसके लिए तुम शोक कर रहे हो, और फिर पण्डित की तरह बातें भी बना रहे हो।' इसका अर्थ यह है कि तुम्हारी वाणी में कुछ और है तथा मन में कुछ और, अर्थात् तुम सरल नहीं हो। जिसकी वाणी तथा मन में ऐक्य नहीं है, वह धक्का खाता है। सत्य या भगवान् की प्राप्ति उसके लिए बहुत कठिन है। परमहंसदेव कहा करते थे कि मन और वाणी को एक करना पड़ेगा, यही मुख्य साधन है। गीता भी यही कहती है। धर्म-रूप महान् वृक्ष का बीज सरलता को छोड़कर और कुछ भी नहीं है। साथ ही जिस प्रकार प्रत्येक मंत्र की शक्ति होती है, उसी प्रकार गीता की विशेष शक्ति इस श्लोक में निबद्ध है।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

'सबको छोडकर यदि मेरी शरण में आ सको, तो मनोरथ अवश्य ही पूर्ण हो जायेंगे।' हम कितने ही प्रकार के Plan या कल्पनाएँ किया करते हैं — यह करना होगा, वह करना होगा, किन्तु प्रायः एक ही आघात में सब कुछ नष्ट हो जाता है, मानो एक महाशक्ति सबको नष्ट कर देती है। मानो हम उसकी मुट्ठी में हैं और उसकी आज्ञा के बिना हम हिल भी नहीं सकते। इससे कोई यह न सोचे कि Free will अर्थात् मनुष्य की स्वाधीन इच्छा है ही नहीं। एक ओर स्वाधीन इच्छा तथा दूसरी ओर अदृष्ट—इन दोनों के बीच मनुष्य पड़ा हुआ है। मानो एक प्रकार का अद्भुत प्रकाश तथा अन्धकार है, यथार्थ रूप से कुछ कहा भी नहीं जा सकता—प्रकाश कहना चाहो तो प्रकाश और अन्धकार कहना चाहो तो अन्धकार है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य इस अतीन्द्रिय वस्तु को जानने की चेष्टा कर रहा है। यूरोप में शुक्रात (Socrates) से लेकर प्रत्येक चिन्ताशील व्यक्ति ही यह जगत् क्या है, किस शक्ति के अवलम्बन से यह प्रकाशित है, यह स्वाधीन है या पराधीन, इत्यादि विषय जानने की चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु कुछ भी निर्णय नहीं कर पाये हैं, क्योंकि मन के द्वारा ये विषय जाने नहीं जा सकते, मन तो सीमित है। अन्तविशिष्ट वस्तु के द्वारा अनन्त को किस प्रकार से जाना जा सकता है? इन्द्रियों की अतीत भूमिका में न जाने से जिन प्रश्नों की मीमांसा सम्भव नहीं, उनका समाधान मन किस प्रकार से कर सकता है? एक कहानी है; एक पण्डित इन सब तत्त्वों को समझने तथा समझाने की चेष्टा बहुत दिन तक करते रहे, किन्तु सफल न होने के कारण समुद्र में डूबकर मरने

चले। वहाँ उन्होंने देखा कि एक बालक अद्भुत खेल खेल रहा है। समुद्र के किनारे बालू में एक गड्ढा खोदकर अपने छोटे छोटे हाथों से समुद्र से अंजलि अंजलि जल लाकर उस गड्ढे को भरने की चेष्टा कर रहा है। अथक परिश्रम और अधिक समय तक दौड़-धूप चलती रही, पण्डित की दृष्टि उस ओर आकृष्ट हुई और वह बालक क्या कर रहा है यह जानने की उनकी इच्छा हुई। उसके समीप जाकर उन्होंने पूछा, 'बालक, यह क्या कर रहे हो?' बालक ने उत्तर दिया, 'समुद्र का सारा जल इस गड्ढे में भर रहा हूँ।' इस बात को सुनकर पण्डित से हँसे बिना नहीं रहा गया, किन्तु साथ ही वे सोचने लगे कि मन के द्वारा मनातीत वस्तु को धारण करने की चेष्टा — क्या इस प्रकार की भूल उनसे भी नहीं हो रही है? स्वामी विवेकानन्दजी कहा करते थे, 'हम सब मानो फीता लेकर निकले हैं, भगवान् को काट-छाँट करके नापकर ही छोड़ेंगे।' यह नहीं हो सकता। मन जड है। हमारे ऋषि लोग जानते थे कि सूक्ष्म जड मन इस स्थूल जड़ को चला रहा है; किन्तु उसकी निजी कोई भी शक्ति नहीं है, आत्मा की शक्ति से वह शक्तिमान है, वही सबको चला रही है। यूरोप के बहुत से लोगों का यह विश्वास है कि मन ही आत्मा है किन्तु यह बात ठीक नहीं है। गीता कहती है कि इन सब प्रश्नों के समाधान से पहिले योग्य अधिकारी बनना पडेगा। किस प्रकार से अधिकारी बना जा सकता है? विश्व-मन की विश्व-इच्छा के साथ अपने क्षुद्र मन एवं इच्छा को एकरूप कर देना होगा। विश्व-मन में जिस प्रकार के भाव, जैसे स्पन्दन उठेंगे, इस क्षुद्र मन में भी वैसे ही भाव तथा स्पन्दन उत्थित होंगे। तभी

ज्ञान के मार्ग में आनेवाली वासनाजनित विघ्न-बाधाएँ दूर होकर इस क्षुद्र मन में विशेष शक्ति का विकास होगा। इसीलिए गीतोक्त धर्म की सारी शक्ति इस श्लोक में निबद्ध है।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।"

वे जगत् के नियन्ता हैं। उनकी जो इच्छा है, मेरी भी वही इच्छा हो, मैं और कुछ नहीं चाहता हूँ। जो इस भाव को दृढ़ता के साथ मन में धारण करते हैं, वे ही उस महाशक्ति के साथ साथ चलते हैं। उनका ही अहंकार नष्ट होकर ज्ञान का आविर्भाव होता है। किन्तु प्राय. हमारे अन्दर ठीक इसके विपरीत भाव रहते हैं। विश्व-इच्छा के साथ युक्त न होकर केवल वासना के लिए हम लड़-भिड़कर मरते है। देखो न, परिवर्तन ही जगत् का नियम है, यह तो सभी जानते हैं, किन्तु फिर भी हममें से प्रत्येक की यह चेष्टा है कि अनित्य शरीर सदा के लिए बना रहे। प्रेम के विषय मे क्या इसी प्रकार की बात हममें नहीं पाई जाती? जिससे हम प्रेम करते हैं, उसके शरीर तथा मन को हम पकड़ रखने की चेष्टा करते हैं। हम अपने प्रीति-पात्र के अनित्य शरीर तथा मन को सदा के लिए स्वकीय बनाए रखना चाहते हैं। इसलिए हमारा प्रेम मोह को उत्पन्न करता है। वास्तविक प्रेम भगवान् का अंश है, उसमें मोह नहीं आ सकता। वास्तविक प्रेम का उदय होने पर प्रेमिक प्रेमास्पद को अनन्त स्वाधीनता दे देता है, उसे अपने में आबद्ध कर रखना नहीं चाहता। मनुष्य वासना के वशीभूत होकर इस प्रकार विश्व-इच्छा के विरुद्ध अनित्य को चिरकाल के लिए पकड़ रखना

के लिए अत्याचारी पिशाच को प्राणदण्ड आदि, विहित कार्य माने जाते हैं। चित्तौड़ के अवरोध के समय स्त्रियों ने शत्रुओं को मारने के लिए धनुष की डोरी बनाने के लिये अपने केश काट दिये थे—नरहत्या उद्देश्य होने पर भी क्या इनको देवी कहकर पूजने की स्वतः ही इच्छा नहीं होती? किन्तु अपने सुख के लिए हत्या करने में हत्याकारी का मन नीचता को प्राप्त होकर निष्ठुर पिशाच की तरह बन जाता है। अतः क्षुद्रत्व-महत्व, भलाई-बुराई कर्म में नहीं मानी जाती, परन्तु कर्ता के उद्देश्य को लेकर ही विचारी जाती है।

मन की गति विचित्र है। परस्पर अत्यन्त विपरीत तीन-चार प्रकार की भावनाएँ एक ही काल में मिलित हो मानव-मन में उदित हो उठती हैं, जिनका हम पता भी नहीं लगा पाते। अर्जुन को ऐसा ही हुआ था। द्रोणाचार्य, भीष्म तथा आत्मीयवर्ग को युद्ध में मारना पड़ेगा, यह देखकर उनके हृदय में मोह उत्पन्न हुआ था। इसका कारण प्रीति भी थी, साथ ही पराजित होने की भीति भी। सम्भवत भय को वे समझ नहीं पाये होंगे। प्रीति से मोह उत्पन्न होता है एव मोह दुर्बलता लाकर मनुष्य को कर्तव्य तथा सत्य के पथ से भ्रष्ट कर देता है। युद्ध से पहले अर्जुन सत्य के लिए खडे हुए थे, स्वार्थ के लिए नहीं। केवल पाँच गाँव लेकर सन्धि करने को वे प्रस्तुत थे। जिससे युद्ध न हो, इसके लिए विशेष रूप से सचेष्ट थे। जब उन्होंने देखा कि युद्ध न करने से अन्याय, अविचार और अधर्म का समर्थन हो रहा है, तब सत्य के लिए वे युद्ध करने को खड़े हुए। अत्याचार का निवारण करना क्षत्रिय का धर्म है। जहाँ अन्याय अत्याचार देखो,

वहाँ उसका प्रतिकार करो। इस संसार में सब एक सूत्र में ग्रथित हैं। तुम्हें चोट लगने पर मुझे भी लगेगी। मेरे प्रति अत्याचार होता हुआ देखकर यदि तुम चुप रहो और यह समझो कि 'होने दो, मेरे ऊपर तो नहीं हुआ, मुझे दूसरों की बातों से क्या प्रयोजन है,' तो तुम अत्यन्त भ्रम में हो। मेरे साथ साथ तुम्हारे ऊपर भी अत्याचार हुआ, यह समझना चाहिए। तुम्हारे मन की सद्वृत्ति पर अत्याचार किया गया। आज स्वार्थपरता से अन्ध होकर स्वेच्छापूर्वक तुमने अन्याय का प्रतिकार नहीं किया, कल जब तुम पर अत्याचार होंगे, तब प्रतिकार करने की शक्ति तुममें नहीं रहेगी। इस प्रकार शनैः शनैः तुम अवनति तथा दासता के मार्ग में अग्रसर होते रहोगे।

युद्धक्षेत्र में अर्जुन को भी मोह उपस्थित हुआ, उन्होंने कहा कि इस सुख की आवश्यकता नहीं। आत्मीय-जन ही यदि जीवित न रहें तो राज्य लेकर क्या होगा? श्रीकृष्ण ने देखा कि अर्जुन भय को छिपा रहे हैं तथा अपने जीवन के उद्देश्य को भूल रहे हैं। वे समझ रहे हैं कि वे अपने ही लिए लड़ने को खड़े हुए हैं। सत्य के लिए, दूसरों पर हुए अत्याचार के प्रतिकार के लिए, कर्तव्यपालन के लिए जो वे खड़े हुए हैं—यह वे भूल गये हैं। इससे पूर्व बकराक्षस-वध आदि के समय जहाँ जहाँ अन्याय-अविचार होते देखा, वहीं धर्म-ज्ञान से उसका प्रतिकार किया। यहाँ इस बात को वे भूल बैठे हैं—समझ रहे हैं कि राज्यलाभ के लिए ही मानो युद्ध करने को खड़े हुए हैं। संसार में बहुधा हम यह देखते हैं कि रूप के मोह में, काञ्चन के मोह में फँसकर हम उद्देश्य को खो बैठते हैं। यदि साधना रहे तो वह उद्देश्य

पुनः लौट भी सकता है, अन्यथा केवल दौड़-धूप ही हाथ लगती है। इसीलिए प्रथम दो श्लोकों में उनको विशेष शिक्षा देते हुए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

"कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥"

'हे अर्जुन, इस समय तुमको मोह कहाँ से उत्पन्न हुआ? स्वर्ग के पथ में बाधक ऐसा मोह तुम जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति को क्यों हुआ? हे अर्जुन, इस क्लीवता को त्याग दो। इस प्रकार की हृदय की दुर्बलता तुम जैसे शक्तिशाली पुरुष को शोभा नहीं देती। इसे त्याग कर खड़े हो, युद्ध करो।' इससे यह विशेष शिक्षा हमें मिलती है कि जिसके द्वारा मोह उत्पन्न होता हो, दुर्बलता आती हो — वही महापाप है। यह बात जिस प्रकार मन के बारे में है, उसी प्रकार शरीर के बारे में भी। जिससे शारीरिक दुर्बलता होती हो, उसका अनुष्ठान करना भी पाप है। आजकल के बालक परीक्षा के लिये पढ़ाई के नशे में शरीर की ओर ध्यान नहीं देते। यह भी एक प्रकार का पाप है। इसकी हम धारणा नहीं कर पाते। विश्वविद्यालय से निकलने पर आजकल के विद्यार्थियों का स्वास्थ्य प्रायः भग्न हो जाता है। वे अपने हाथ-पैरों से काम लेना एकदम भूल जाते हैं। फल यह होता है कि अनेक कार्यों के विषय में उनमें अक्षमता आ जाती है। अतः शरीर के सम्बन्ध में सतर्क रहना विशेष आवश्यक है। ऐसा न करने से दुर्बलता बढ़ती है,

शरीर और मन के सम्बन्ध में अत्याचार करने से उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

इसके बाद अर्जुन कहते हैं कि भीष्म के साथ युद्ध कैसे किया जाय? और गुरु द्रोण की भी हत्या किस प्रकार से की जाय? इसके बाद ही उनको पता चला कि मुख से वे जैसी धर्म की लम्बी-चौड़ी बातें कर रहे हैं, मन में वैसा वास्तविक भाव नहीं है, (क्योंकि मन तो सब कुछ जान लेता है।) साथ ही वे कहते हैं—

"कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे,
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥"

'मुझमें कार्पण्यदोष आ गया है, मैं दया का पात्र बन चुका हूँ। (कृपण शब्द 'दया का पात्र' अर्थ में व्यवहृत होता था।) मेरे मन की शक्ति नष्ट हो चुकी है, सब कुछ खोकर मैं दया का भिखारी बन गया हूँ। इसलिए प्रार्थना कर रहा हूँ, निवेदन कर रहा हूँ कि मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, मुझे शिक्षा दो।' अर्जुन के मन में ऐसी गड़बड़ी कहाँ से उत्पन्न हुई है, इसको स्पष्ट करते हुए तब श्रीकृष्ण बोले—

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।"

'तुम पण्डित की तरह बातें करते हो, किन्तु पण्डित जिसके लिए शोक नहीं करते, उसी के लिए तुम शोक कर रहे हो।' इन दोनों बातों से अर्जुन के हृदय पर गहरी चोट पड़ी। पण्डित क्या कहते हैं? नित्य वस्तु कौनसी है? शरीर तो परिवर्तनशील है। पण्डित लोग इस अनित्य

शरीर के लिए कभी भी शोक नहीं करते। 'तुम शोक कर रहे हो। अत. तुम्हारे मन और वाणी एक नहीं हैं। तुम पण्डित नहीं हो।' भगवान् श्रीकृष्ण की इन उक्तियों से धर्मराज्य की दो प्रधान आवश्यकीय वस्तुओं का हमें सकेत मिलता है। पहिला —— किसी प्रकार की दुर्बलता को नहीं आने देना चाहिए, इससे उद्देश्य का सफल होना कठिन है। दूसरा —— मन और वाणी को एक करना होगा। हम अपने जीवन में यदि इन दोनों उपदेशों का पालन कर सकें, तो हमारे लिए उन्नति के द्वार मुक्त होंगे। जो इन दोनों का जितना पालन करता है, वह चाहे जहाँ भी रहे, ससार में या संसार के बाहर, यथार्थतः कार्य में उसे उतनी ही सफलता मिलेगी।

द्वितीय अध्याय

ज्ञानयोग

(बंगला मार्गशीर्ष २७, १३ दिसम्बर, कलकत्ता विवेकानन्द समिति में प्रदत्त वक्तृता का सारांश।)

पिछली बार दो बातें हमने विशेष कर सीखी हैं। पहली जिन बातों से दुर्बलता आती है, चाहे वह दुर्बलता शारीरिक हो या मानसिक, वे सब ही पाप हैं; अत. उनको पूर्ण रूप से त्याग देना होगा, क्योंकि उस दुर्बलता के द्वारा मोह में पड़कर मनुष्य शास्त्रवाक्य, गुरुवाक्य आदि सब कुछ भूल जाता है। दूसरी बात यह है कि मन और वाणी को एक करना होगा अर्थात् पण्डित की तरह बातें करना किन्तु कार्य में विपरीत आचरण करना त्यागना होगा। परमहंसदेव कहा करते थे कि मन और वाणी को एक करना ही मुख्य साधन है। सब जगह सभी विषयों में यह प्रयोज्य है। क्या धर्म के सम्बन्ध में, क्या सांसारिक विषयों के बारे में, सर्वत्र ही इसकी आवश्यकता है। बहुतेरे लोग सम्भवत. यह कहेंगे कि मन और वाणी को एक कर धर्मानुष्ठान तो हो सकता है, किन्तु संसार-यात्रा सम्भव नहीं। पर यह बात गलत है। विभिन्न सांसारिक विषयों की उन्नति के साथ ही साथ मनुष्य आजकल अच्छी तरह से यह समझने लगा है कि वाणिज्य व्यवसाय आदि घोर सांसारिक विषयों में भी जो जितना उद्यम

कर सकता है, मन और वाणी को एक कर जितना परिश्रम कर सकता है, उतनी ही उसकी उन्नति होती है।

गीता के सम्बन्ध में एक बात और जाननी आवश्यक है। युद्ध-क्षेत्र में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। वहाँ सुनने या लिखनेवाले कौन थे? युद्धक्षेत्र में न तो व्यासदेव थे और न सञ्जय ही, किन्तु गीता के पढने से मालूम होता है कि राजा धृतराष्ट्र का अनुचर सञ्जय अपने प्रभु को गीता सुना रहा है और महर्षि व्यास ने उसको महाभारत में श्लोक-बद्ध किया है। किन्तु उन दोनों ने किस प्रकार से सुना? आख्यायिका है कि धृतराष्ट्र अन्धे थे। कुरुक्षेत्र-युद्ध का विवरण जानने के लिए महर्षि वेदव्यास के समीप प्रार्थना करने पर व्यासदेव ने उनको दिव्यदृष्टि का वरदान देना चाहा, किन्तु उसको उन्होंने स्वीकार नहीं किया। तब महर्षि व्यास ने उनकी इच्छा-पूर्ति के लिए सञ्जय को योग-दृष्टि प्रदान की, इसीलिए सञ्जय युद्धक्षेत्र की सारी घटनाएँ देख सके और धृतराष्ट्र से कह सके।

आज का विषय ज्ञानयोग है। मनुष्य को जब मोह हो जाता है, तब आत्मज्ञान के अतिरिक्त और कोई भी शक्ति उसे ठीक मार्ग पर नहीं ले जा सकती। जब किसी आत्मीय-स्वजन की मृत्यु होती है अथवा जीवन-प्रवाह में कोई भयानक परिवर्तनरूप आवर्त उपस्थित होता है तथा क्षुद्र मानव की सभी योजनाओं को एक ही चोट में नष्ट कर देता है, तो ऐसे शोक के समय में आत्मज्ञान के रहने पर ही वह ठीक रह सकता है। ऐसे परिवर्तन सबके ही जीवन में कभी न कभी आ चुके हैं या आनेवाले हैं। अर्जुन के जीवन में इस

महायुद्ध से ऐसा ही परिवर्तन उपस्थित हो गया था। भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश से आत्मज्ञान की सहायता के द्वारा वीरश्रेष्ठ अर्जुन जीवन के इस महासन्धि-स्थल को सहज ही में पार करके उन्नति की ओर अग्रसर हुए थे। किन्तु न जाने कितने ही जन ऐसी परिस्थिति में आशा का आलोक न पाकर पथभ्रष्ट हो अवनति एवं मृत्यु के मुख में पतित हो चुके हैं। इसलिए गीता के प्रारम्भ में ही आत्मज्ञान का उपदेश है, —जैसे अर्जुन के प्रति, वैसे ही सब देश, सब काल तथा सब मनुष्यों के प्रति भी। इसलिए परमहंसदेव शिक्षा देते थे, 'अद्वैतज्ञान को गाँठ में बाँधकर चाहे जो कुछ भी करो।' संसार में सब कुछ परिवर्तनशील है। जड़ राज्य के अन्तर्भूत सब कुछ इसी नियम के आधीन हैं। किस उद्देश्य से यह परिवर्तन हो रहा है यह कौन कह सकता है? परिणामवादी (Evolutionists) कहते हैं कि क्रमोन्नति हो रही है; किन्तु उद्देश्य क्या है, इसका वे निरूपण नहीं कर पाते। बीज से वृक्ष, फूल, फल इत्यादि हो रहे हैं, इसका क्या उद्देश्य है? किसलिए ये खेल रचे जा रहे हैं? मानव-हृदय में सर्वदा यह प्रश्न युग युग में उदित हुआ एव हो रहा है, किन्तु अभी तक इसका कोई उत्तर नहीं मिला है। यूरोप के विद्वान् कहते हैं कि इसका उद्देश्य एक अपूर्व सर्वांगसम्पन्न समाज-शरीर का गठन करना है। हमारे शास्त्र का कहना है कि यह जो सृष्टि, स्थिति तथा लय रूप शृङ्खलाबद्ध विचित्र जगत्-कार्य चल रहा है, यह अनादि है। यह घटना भगवान् की ओर से देखने पर उद्देश्यविहीन लीला-विलास या खेल मात्र प्रतीत होती है, क्योंकि

विश्व के सृजन में भगवान् की किसी भी उद्देश्य-साधन की इच्छा है, ऐसा कहने पर उनमें अपूर्णता-दोष उपस्थित होता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि सृष्टि उनकी लीलामात्र है। सृष्टि-कार्य से उनकी वृद्धि या हानि हुई, ऐसी बात नहीं है। किन्तु हम लोगों की ओर से देखने पर अर्थात् मनुष्य इस जगत् में आकर विभिन्न चेष्टाएँ क्यों कर रहा है, ऐसा विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि संसार-बन्धन से मुक्त होकर आत्मज्ञान लाभ करना, पूर्णत्व को प्राप्त होकर सब प्रकार के दुःख-कष्टों को अतिक्रमण करना ही इसका उद्देश्य है। साथ ही साथ यह भी कहा जा सकता है कि ऐसा जितेन्द्रिय, आत्मज्ञानी, पूर्णतः जीवन्मुक्त व्यक्तियों से बना हुआ मनुष्य-समाज ही सर्वाङ्गपूर्ण हो सकता है अर्थात् उस समाज के सभी आन्तरिक अभाव सम्पूर्णतः दूर हो जाने के कारण उसमें सदा ही शान्ति तथा आनन्द विराजमान होंगे।

श्रीकृष्ण ने जब देखा कि अर्जुन का यह मोह आत्मज्ञान के बिना दूर होने का नहीं, तब वे बोले —

"न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा.।"

हम तुम कभी नहीं थे और न रहेंगे, यह बात नहीं है। आत्मा अजर अमर है। यह शरीर जड है। जो जड़ से उत्पन्न हुआ है, उसे जड़ के नियम में ही रहना पड़ेगा। जो सूक्ष्म-जड़ अर्थात् मन से उत्पन्न हुआ है, वह सूक्ष्म के नियमानुसार चलेगा। जो जड़ से उद्भूत है, उसको अमिट बनाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। जड का नियम ही परिवर्तनशीलता है। उसको परिवर्तित न होने देंगे, एक ही रूप से चिरकाल तक पकड़ रखेंगे — ऐसी चेष्टा मूर्खता मात्र है, अज्ञान का

कार्य है। संसार में ऐसी ही चेष्टा निरन्तर हो रही है। किसी समय युधिष्ठिर से बकरूपी धर्म ने पूछा था कि जगत् में आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

"अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥"

देख रहा हूँ कि प्रतिदिन लोग मर रहे हैं। संसार में कोई भी ऐसा नहीं है, जिसने किसी न किसी को मरते न देखा हो। फिर भी सब इस प्रकार से कार्य कर रहे हैं कि मानो वे अमर हैं। सबके हृदयों में ही इस जड़-शरीर को चिरकाल के लिए बनाए रखने की आकांक्षा है।

जड के छः विकार हैं। जन्म, कुछ काल के लिए अस्तित्व, वृद्धि, परिणति या पक्वावस्था, क्षय अर्थात् ह्रास तथा विनाश—ये छः अवस्थाभेद हैं। शास्त्र का कहना है कि मन भी सूक्ष्म जड़ से निर्मित है। बहुत से यूरोपीय विद्वान् कहते हैं कि Mind, Spirit, Soul ये सब एक ही वस्तु हैं। हमारे देश में चार्वाक का मत भी यही है। मन या आत्मा मस्तिष्क का कार्यमात्र है। मस्तिष्क के साथ साथ इसकी उत्पत्ति तथा लय है। कोई कोई परिणामवादी पण्डित कहते हैं कि मन मस्तिष्क का कार्यमात्र नहीं है, वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है—वही सदा 'मैं' 'मैं' करता रहता है एवं वही आत्मा है। किन्तु हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि मानसिक शक्ति की ह्रास-वृद्धि होती रहती है। मन भी जड़ की तरह परिवर्तनशील है—वह किस प्रकार से आत्मा हो सकता है? अतः शास्त्रकार कहते हैं कि आत्मा मन से

स्वतन्त्र पदार्थ है। जिस प्रकार शारीरिक कार्य का संचालन आत्मा के द्वारा होता है वैसे मानसिक का भी। प्रश्न हो सकता है कि मानसिक विकृति हो जाने पर मनुष्य पागल हो जाता है,—आत्मा यदि मन से स्वतत्र ही है, तो शरीर तथा मन के परिवर्तन से वह लिप्त ही क्यों होता है? अथवा उसमें परिवर्तन ही क्यों आ जाता है? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि आत्मा में परिवर्तन होता ही नहीं, फिर भी जो परिवर्तन भासित होते हैं, उसके अन्य कारण हैं। मान लो कि कोई व्यक्ति 'वायोलिन' बजा रहा है, अकस्मात् उसका तार टूट गया और बजना बन्द हो गया। यहाँ पर दोष किसका है—बजाने वाले का या 'वायोलिन' का? वैसे ही आत्मा ने रूप, रस, गन्ध इत्यादि भोग करने के लिए मन तथा देहरूप यन्त्र की सृष्टि की है। ये विकल होने पर काम नहीं देते, किन्तु यन्त्र के विकल होने पर यदि पूर्ववत् आवाज न निकले, तो भी यह सिद्ध है कि यन्त्री आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हमारे शास्त्र ने इस प्रकार से शरीर तथा मन से आत्मा की पृथकता दिखाई है। शरीर तथा मन जड़ हैं, आत्मा चित् या ज्ञानस्वरूप है। शरीर की तरह मन की भी उत्पत्ति, स्थिति एव विनाश है। आत्मा नित्य एव अविनाशी है।

"नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽय सनातनः।"

'आत्मा नित्य, परिवर्तनरहित तथा सबके भीतर एक भाव से अवस्थित है।'

"देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥"

'इस देही की देह में जिस प्रकार कौमार, यौवन, जरा आदि अवस्थाएँ उपस्थित होती हैं, वैसे ही मरने के बाद भी शरीर-परिवर्तन अथवा पुनर्जन्म होता है। हमारे शरीर में जिस प्रकार वृद्धि, पूर्णता तथा ह्रासरूप नाना प्रकार के परिवर्तन उपस्थित होते हैं, देहान्तर प्राप्त होना भी उसी प्रकार का एक परिवर्तनमात्र है।' साथ ही शास्त्र का यह भी कथन है कि हम योग के द्वारा इसका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं।

आत्मा में परिवर्तन नहीं होता। प्रश्न किया जा सकता है कि तब भोक्ता किसे कहा जाय? भोग कौन करता है? कौन सुखी एवं दुखी होता है? वेद का कथन है कि इन्द्रिय तथा मन से युक्त होने पर ही आत्मा भोक्ता है, जब इन्द्रिय तथा मन के साथ सम्बन्ध नहीं रहता तभी आत्मा अपने यथार्थ पूर्ण स्वरूप को अनुभव करता है। अतः शास्त्र कहता है कि हम जो अपने को मन तथा इन्द्रिययुक्त समझ रहे हैं, यही हमारा कारण-शरीर है, क्योंकि यथार्थ में हम कौन हैं, इस बात को भूलकर यदि हम अपने को शरीर तथा मनविशिष्ट न मानते होते, तो अज्ञान, दुःख, मृत्यु आदि कुछ भी हमें स्पर्श नहीं करते। इस प्रकार की भूल ही सब अनिष्टों का कारण है, अतः यही कारण-शरीर है। एकमात्र ज्ञान के द्वारा ही इस शरीर का नाश हो सकता है, अन्य किसी उपाय से नहीं। किन्तु अपना स्वरूप भूल जाने पर भी आत्मा की वास्तव में कोई क्षति-वृद्धि नहीं होती, आत्मा सदा ही पूर्ण है। मन तथा इन्द्रियों का प्रभाव आत्मा पर कभी भी नहीं होता। आत्मा का स्वरूप सदा एक-सा है। परमहंसदेव कहा

करते थे कि चकमकी पत्थर को चार सौ वर्ष तक जल में डाल रखो, किन्तु उसको निकालकर घिसते ही तुम देखोगे कि वह ठीक वैसा ही है और उससे आग निकल रही है, आत्मा भी ठीक उसी प्रकार है। शरीर-मन के सम्बन्ध में जब उसे अनुभव होने लगता है कि यह तो बन्धन है, तभी उनको पृथक् कर स्वय कौन है यह जान लेता है। हम ससाररूप स्वप्न को देख रहे हैं। स्वप्न भी तो हम नाना प्रकार के देखते हैं। मानो मैं मर गया हूँ, किसी ने मुझे काट डाला है, खून की धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं और कटा हुआ मस्तक एवं शरीर सामने पड़ा हुआ है, किन्तु जगने पर वहीं कुछ भी नहीं है। स्वप्न नष्ट हो जाता है। सभी एक दिन उसी प्रकार से जग उठेंगे। इसीलिए शास्त्रकार यास्क कहते हैं कि आत्मज्ञान में आर्य, म्लेच्छ, ब्राह्मण, शूद्र आदि सभी का समानाधिकार है। सभी को यह शिक्षा दो। कौन जानता है कि किसकी आत्मा कब जग उठेगी? परमहसदेव कहा करते थे कि यदि तीव्र वैराग्य का उदय हो तो तीन वर्ष, तीन महीने या तीन दिन में ही आत्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

गीता भी कहती है—

"स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।"

'मृत्युकाल में यदि किसी को क्षणमात्र के लिए भी इस ज्ञान का उदय हो तो समस्त अज्ञान का नाश होकर वह ब्रह्म के साथ मिल जाता है।'

यह आत्मज्ञान ही वेद की आधार-शिला है। यही भारत की एकमात्र जातीय सम्पत्ति है। भारत से ही अन्यान्य देशों में इस ज्ञान

का प्रचार हुआ है। जिस दिन भारत इस ज्ञान की बात को भूल जायगा, उस दिन जातीयत्व के साथ ही साथ उसका भी नाश हो जायगा। दूसरे देशवासियों के लिए इस ज्ञान को यथार्थ रूप में समझने तथा अनुभव करने में अभी बहुत विलम्ब है। धर्मराज्य में अभी हम जगत् के गुरुस्थानीय हैं। अंग्रेज आदि अन्यान्य जातियों को वाणिज्य, राजनीति, युद्ध इत्यादि विषयों में गुरु मानकर उनसे शिक्षा ग्रहण करो, किन्तु धर्म में इस स्थान को अधिकार करने के योग्य वे अभी नहीं हुए हैं। धर्म की सजीव मूर्ति परमहंसदेवप्रमुख साधुओं को त्यागकर यदि कोई विदेशी, विधर्मी के समीप अपने धर्म की महिमा सुनने जाय तो इससे बढ़कर मूर्खता और क्या हो सकती है? आजकल कोई कोई सम्प्रदाय वैदिक धर्म के दो-चार तत्वों को उल्टे-सीधे रूप से अपनाकर धर्म के नाम से उसी का प्रचार कर रहे हैं। कोई कोई तो यह कहते हैं कि एक कोटि जन्म के अनन्तर मनुष्य चाहे या न चाहे, वह मुक्त अवश्य होगा एवं उसके लिए आत्मज्ञान-लाभ भी अनिवार्य है। इस प्रकार का कर्मवाद घोर अदृष्टवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वेद कभी भी ऐसी शिक्षा नहीं देते। वेद कहते हैं कि मनुष्य चाहे तो अभी मुक्त हो सकता है अन्यथा अनन्त काल पर्यन्त स्वप्न में फँसा रह सकता है। मनुष्य की मुक्ति का कोई निर्दिष्ट समय कहीं भी नहीं दिया गया है। पुराणादि में भी केवल यही कहा गया है कि चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर जीव मनुष्य-जन्म को प्राप्त होता है। मुक्ति का एक निर्दिष्ट समय हो ही कैसे सकता है? जन्ममरणादि से आत्मा को तो वास्तव में कोई दोष लगा नहीं। आत्मा तो मानो सो रहा है;

जिस दिन नींद खुलेगी, उसी दिन उसकी मुक्ति हो जायगी। आत्मा सब शक्तियों का आधार है। उसे जिस दिन इस बात की उपलब्धि होगी तथा जिस दिन यह अनुभव होगा कि वह तो राजपुत्र है, उसी दिन उसका स्वरूप जाग्रत हो उठेगा तथा उसकी महिमा का परिपूर्ण विकास होगा। किसी किसी सम्प्रदाय का कहना है—'चिर तुषाराच्छन्न पर्वतशृङ्ग-निवासी मुक्तात्माओं के साथ वे विशेष सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। नित्य उनके दर्शन, स्पर्शन तथा उनके साथ पत्र-व्यवहारादि भी होता रहता है।' बड़ी अच्छी बात है। यदि ऐसा होता हो तो होता रहे, किन्तु वेद-पुराणादि धर्मग्रन्थों में जब उन लोगों का किञ्चिन्मात्र भी उल्लेख नहीं पाया जाता है, तब उनके परिचय जानने के लिए हमें व्यग्र होने की आवश्यकता नहीं। थोड़ी सी आयु है; सबकी बात-बतङ्गड़ों में इतनी दिमागपच्ची करने का अवसर ही कहाँ है?

सुख या दुःख आत्मा को लेशमात्र भी स्पर्श नहीं करता, वह तो पूर्ण है। किन्तु इस जड़ राज्य के नियमानुसार शरीर का परिवर्तन होता रहता है। अब प्रश्न हो सकता है कि मरते समय मनुष्य की क्या दशा होती है? स्थूल शरीर, जिसको लेकर मन खेल रहा है, तब एकदम विकल हो जाता है—जैसे लोग जीर्ण वस्त्र को त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करते हैं, उसी प्रकार आत्मा भी जीर्ण शरीर को त्याग कर नवीन शरीर धारण करता है और परित्यक्त शरीर से जो चिन्ता, चेष्टा तथा कार्य अनुष्ठित हुए, उसका संस्कार मन के साथ रह जाता है। मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ तथा रूपरसादिकों के संस्कार को

सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म जड़ के द्वारा निर्मित है। मन एवं इन्द्रियादि विशिष्ट सूक्ष्म शरीर का नाश स्थूल शरीर के साथ नहीं होता, मृत्यु के बाद भी वह आत्मा के साथ संयुक्त रहता है। अथवा स्थूल शरीर को त्यागकर आत्मा के इस प्रकार के ज्ञान का नाश नहीं होता कि मैं शरीर तथा इन्द्रियवान हूँ। तब आत्मा को पूर्व शरीर के संस्कार के अनुरूप अन्य किसी स्थूल शरीर के धारण तथा गठन की इच्छा होती है एवं जिस पिता-माता से उत्पन्न होने पर अपने संस्कार के विकासोपयोगी देह उसे मिल सकती है, उन्हीं की ओर आत्मा आकृष्ट होता है। पूर्वानुष्ठित कर्म ही उसे आकर्षित कर ले जाता है। उस सूक्ष्म शरीर की कोई लम्बाई-चौड़ाई या वजन नहीं है एवं गर्भाधान के दिन से ही मातृ-गर्भ में उसकी अवस्थिति होती है। सूक्ष्म शरीर यद्यपि दृष्टिगोचर नहीं होता है, फिर भी वह जड़ है। वह वायु तथा आकाश से भी सूक्ष्म है। मृत्यु से पहिले स्थूल शरीर की सहायता से आत्मा को जितनी शिक्षा मिल चुकी है, नये जन्म में नवीन स्थूल शरीर को पाकर वह उसके आगे से कार्य प्रारम्भ कर देता है तथा ज्ञानलाभ करता रहता है।

पहले जो कुछ कहा गया, उसके द्वारा ही अच्छी तरह से यह समझा जा सकता है कि सब लोग समान बुद्धि, विद्या तथा सम्पद को लेकर सब विषयों में समान होकर संसार में जन्म क्यों नहीं लेते तथा शरीर एवं मन के विषय में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के समान क्यों नहीं होता? हमारे मानसिक, आध्यात्मिक तथा अन्यान्य विषयों में स्वाभाविक भेद क्यों पाए जाते हैं? पुनर्जन्मवाद में ही इसकी

सुन्दर मीमांसा मिलती है। पिता के गुण-दोष सन्तान में संक्रमित होते हैं, यह कहकर आधुनिक यूरोपीय विद्वान इस सर्वव्यापी प्रत्यक्ष भेद या वैषम्य की मीमांसा करते हैं, क्योंकि विविध प्रकार के शारीरिक रोग, विभिन्न प्रकार के मानसिक दोष या गुण अधिकतया पिता से ही सन्तान में आते हैं—इस विषय में कोई सन्देह नहीं है। जिन स्थलों में यह देखा जाता है कि सन्तान एकदम पिता के अनुरूप नहीं है, वहा पर वे शिक्षा के तारतम्य को कारण बतलाकर उसे समझाने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार से सारा दोष पिता अथवा गुरु पर आ पड़ता है। उक्त व्यक्तिगत वैषम्य का और कोई समाधान वे नहीं दे पाते हैं। हमारे शास्त्र का कथन है कि यह प्रभेद कर्म के अनुसार होता है। मनुष्य जब जिस कार्य को करता है, किसी उद्देश्य को लेकर ही करता है तथा उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वह अपनी कुछ आन्तरिक तथा बाह्य शक्तियों को विशेष रूप से परिचालित करता रहता है। जब वे शक्तियाँ जागृत तथा परिचालित होंगी, तब उनके फल-स्वरूप कुछ परिवर्तन अवश्य ही उपस्थित होंगे। वह फिर उन परिवर्तनों को भला या बुरा, सुखप्रद या दुःखप्रद समझने या अनुभव करने लगता है। यदि अनुभव भले या सुखप्रद प्रतीत होते हों, तो मन सदैव के लिए उनको पकड़ रखना चाहता है, और यदि बुरे या दुःखप्रद प्रतीत हों अथवा भविष्य में उनके परिणाम निश्चित रूप से दुःखजनक होंगे, इस प्रकार का भी अनुभव हो तो फिर मन सर्वथा उनको दूर करने की चेष्टा करता है। अतः बीज से जैसे वृक्ष होता है, और फिर उसी वृक्ष से फूल, फल तथा बीज की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार एक कर्म से सुख या दुःख

भोग तथा अन्य कर्म भी आकर उपस्थित होते हैं। यह देखा जाता है कि एक जन्म में अनेकानेक कर्मों के फल या सुख-दु.ख भोगने का पूरा समय नहीं मिलता है , इसलिए दूसरे जन्म में उनको भोगना पड़ता है।

वेदान्त में मनुष्य के द्वारा अनुष्ठित सब प्रकार के कर्मों को पाँच भागों में विभक्त किया गया है। जैसे — नित्य, आगामी, संचित, प्रारब्ध तथा प्रतिषिद्ध। प्रतिदिन नित्य कर्म, शौच-सन्ध्यादि, करना ही पड़ता है। इसके करने से विशेष कोई फल नहीं, परन्तु न करने में दोष है। शास्त्र प्रतिषिद्ध कर्मों को करने का निषेध करता है, जैसे— चोरी न करो, हत्या न करो इत्यादि। पूर्व जन्म में ही मनुष्य संचित कर्मों का अनुष्ठान कर चुका है, किन्तु अभी उनका फल भोगना बाकी है। उनमें से कुछ कर्मों के फल को भोगने के लिए मनुष्य ने इस जन्म में भला या बुरा शरीर, मन तथा विविध प्रवृत्तियों को प्राप्त किया है। इसी का नाम प्रारब्ध है। और इस जन्म में अनुष्ठित कर्मों को या जिन कर्मों के फलस्वरूप दूसरा जन्म होगा, उनको आगामी कर्म कहा गया है। आगामी, संचित तथा प्रारब्ध, इन तीन प्रकार के कर्मों को समझाने के लिए श्रीमत् शंकराचार्य ने स्व-रचित ग्रन्थ में एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है। जैसे — कोई व्यक्ति धनुर्धारण कर शर छोड़ रहा है। एक शर छोड़ चुका है। छोड़ने के विचार से एक शर को धनुष में संलग्न किया है और कुछ शर उसके पृष्ठदेश पर तूण में बँधे हुए हैं। जो शर छोड़ा जा चुका है, वह जहाँ भी हो, लगेगा ही। उस शर के साथ प्रारब्ध कर्म की तुलना की जा सकती है। उस कर्म के विषय में मनुष्य का कोई भी हाथ नहीं है। उसके शरीर

एवं मन को अवश्य ही प्रारब्ध कर्मफल भोगना पड़ेगा। इच्छा करने पर भी उस फलभोग को रोका नहीं जा सकता। इसलिए मुक्त पुरुष आत्मज्ञान लाभ करने के पश्चात् भी प्रारब्ध कर्म के फल को शरीर द्वारा भोगते हैं।

छोड़ने के विचार से जिस शर को हाथ में लिया गया है, उसकी आगामी कर्म के साथ तुलना की जा सकती है। वह चाहे तो उस शर को छोड़ भी सकता है और रोक भी सकता है। इसी प्रकार आगामी कर्म को मनुष्य चाहे तो रोक सकता है। जो शर उसके पृष्ठदेश में बँधे हुए हैं, उनके साथ उसके सचित कर्मों की तुलना हो सकती है।

शास्त्रकार कहते हैं कि जिस कर्म का अनुष्ठान कर रहे हो, उसका फलभोग अवश्यम्भावी है। एक कर्म फिर दूसरे कर्म को प्रसव करता है। इसी प्रकार कर्मों का बन्धन दिन प्रतिदिन जन्म-जन्मान्तर में बढता ही जाता है। इसकी समाप्ति कब होगी?—उस दिन जब आत्मज्ञान की प्राप्ति होगी, मनुष्य जिस दिन देखेगा कि वह अखण्ड अविनाशी, जरा-मरण-रहित पूर्णानन्दमय आत्मा है। पूर्णानन्दमय आत्मा न तो कभी भोगाधीन रहा और न कभी भोग करेगा। कर्म तथा भोग का सम्बन्ध सदा शरीर एवं मन से ही रहा है। जवा फूल के समीप दर्पण को रखने पर दर्पण में जो लालिमा आ जाती है वह कभी दर्पण का रग नहीं है।

फिर भी शुद्ध-स्वरूप आत्मा के अस्तित्व से ही सब कार्य चल रहे हैं, अतः उस ज्ञान के लाभ होने पर फिर मनुष्य कर्माधीन नहीं रहता। समूचे कर्म समाप्त हो जाते हैं, ज्ञानाग्नि के तेज से सब भस्मीभूत हो जाते हैं।

"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।"
"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।"

इस ज्ञान को प्राप्त करना ही हम लोगों के जीवन का ध्येय है। सुख-भोग या दु:ख, तुम्हारे जीवन का ध्येय इन दोनों में से एक भी नहीं है। कोई व्यक्ति, चाहे वह संसार में रहे या संन्यासी बने अथवा छात्र जीवन में रहे या व्यापार-वाणिज्य में दौड़-धूप करे, चाहे जिस स्थिति में ही वह क्यों न हो, सभी अवस्थाओं में मनुष्य इस प्रकार से कर्म कर सकता है कि उन कर्मों के द्वारा ही ज्ञानमार्ग में वह अग्रसर होता रहे। मनुष्य ऐसा सोचता अवश्य है, किन्तु धर्म को संसार से पृथक् करके रखने का उपाय नहीं है। इसको समझाने के लिए ही मानो गीता का उपदेश रणभूमि में प्रारम्भ हुआ है, जहाँ हिंसा-द्वेष की तरंगें गरज रही हैं, जहाँ उद्यमरहित होकर रहने का अवकाश ही नहीं है एवं जहाँ मानव-मन की पैशाचिक प्रवृत्तियाँ निःसङ्कोच रूप से खेलने के लिए खडी हुई हैं। यहाँ पर यदि धर्म का सर्वोच्च उपदेश एवं अनुष्ठान हो सकता है, तो संसार में ऐसा कौन सा स्थान है जहाँ वह नहीं हो सकता? जो धर्म सबके लिए नहीं है, उस धर्म को कौन चाहेगा? तुम सुखपूर्वक रहो, तुम्हें शान्ति मिले और मैं दु:ख-कष्टों में पड़ा रहूँ, शास्त्रकार की ऐसी इच्छा नहीं है। गार्हस्थ्य जीवन हो या संन्यास, सर्वत्र ही यथार्थ धर्म का अनुष्ठान हो सकता है। धर्म सबको एक ही जगह ले जा रहा है तथा समझा रहा है, 'मनुष्यो, तुम्हारा स्वरूप पूर्ण है, तुम पूर्णस्वरूप ही हो. तुम चाहे जितना भी क्यों न सोचो कि तुम क्षुद्र हो, सुख-दुःख भोग रहे हो, तुम्हारी मृत्यु

अवश्यम्भावी है इत्यादि, परन्तु तुम जो कुछ हो वही रहोगे।' धर्म कहता है —

"य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥"

'जो भी कोई आत्मा को हन्ता अर्थात् हत्यारा समझता है अथवा यह समझता है कि आत्मा हत हो सकता है, वे दोनों ही आत्मा को नहीं जानते हैं; आत्मा का न तो जन्म ही होता है और न मृत्यु ही।

'न जायते म्रियते वा कदाचित्।'

(आत्मा) कभी जन्म भी नहीं लेता है और मरता भी नहीं।'

"वेदाविनाशिनं नित्य य एनमजमव्ययम्।
कथ स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥"

'जो नित्य-स्वरूप आत्मा को जानता है, वह किसका हनन कर सकता है अथवा किसके द्वारा मारा जा सकता है?' वह कुछ भी नहीं करता। उसके शरीर-मन अपने आप ही मृत्युपर्यन्त कार्य करते हुए चले जाते हैं। सत्कार्य, परोपकार आदि उसके लिए स्वभावसिद्ध हो जाते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मज्ञान मनुष्य को सुख-दुःख के पार ले जाता है। इसीलिए मनुष्य जब शोक-मोह में विवश हो जाता है, तब आत्मज्ञान की उपलब्धि करा देने के सिवा और कोई उपाय नहीं रह जाता। उस ज्ञान की उपलब्धि के बिना अर्जुन के भी शोक तथा मोह दूर नहीं हुए थे। विश्वरूप-दर्शन के बिना और साथ ही साथ

इस बात को अनुभव किये बिना कि हम एक महाशक्ति के हाथ में यन्त्रस्वरूप बने हुए हैं, कभी किसी के अज्ञानजनित शोक, मोह तथा दुर्बलता का लोप नहीं होता। अर्जुन ने जब देखा कि संसार में किसी की भी कुछ करने की शक्ति नहीं है, तब उनका भ्रम दूर हुआ और तभी उनके शोक-मोह दूर हुए।

द्वितीय अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने केवल इस आत्मतत्व को ही नहीं कहा है, किन्तु साधारण रीति से अर्जुन को और भी अनेक प्रकार से समझाया है। उन्होंने कहा है — तुम्हारा यश नष्ट होगा, कापुरुष समझकर लोग तुम्हारी अवज्ञा करेंगे, इसकी अपेक्षा तुम्हारी मृत्यु भी श्रेयस्कर है इत्यादि। बहुधा इन बातों को न समझकर लोग दोषारोप किया करते हैं। वे समझते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ने यहाँ ऐसी कौनसी अच्छी बातें कही हैं! लोग निन्दा करेंगे इससे डरकर क्या असत् कार्यों को भी करना पड़ेगा? नहीं, बात यह नहीं है। कुछ गहराई से विचार करने पर पता चलेगा कि भगवान् की इन सब बातों में भी एक गम्भीर भाव विद्यमान है। हम देखते हैं कि लोग जिसकी कीर्ति गाते हैं, वास्तव में उसका कोई न कोई विशेष गुण अवश्य है। यदि गुण न हो, तो वह यश कभी स्थायी नहीं हो सकता। सत् कार्य के करने से तुम्हारे सत् उद्देश्य को विशेष रूप से न समझते हुए भी लोग गुण कीर्तन करते हैं। किसी के दोष-गुण अशिक्षित या अज्ञ जनों के समक्ष विचारार्थ रखने पर, वे भी उसे समझने की क्षमता रखते हैं, क्योंकि सबके अन्दर भगवान् विद्यमान हैं, उन्हीं की शक्ति से भलाई-बुराई समझने की क्षमता स्वभावतः ही उनमें पाई जाती है। यदि लोग तुम्हारी निन्दा

करें, तो उसके दो कारण हो सकते हैं। या तो वे तुमको समझ नहीं पाते कि तुम इतने उन्नत हो अथवा यथार्थ में तुम निन्दा के ही पात्र हो। ऐसे स्थल में तुम्हें पहले अपने को समझने की आवश्यकता है। दृढ़ता के साथ अपने को छान-बीन कर देखने के पश्चात् फिर तुम्हें लोगों की बातों की उपेक्षा करनी चाहिए। इसलिए पहले ही भगवान् ने अर्जुन से कहा कि मोह के ही कारण तुम्हारे हृदय में ऐसा भाव उत्पन्न हुआ है, अथवा तुम डर गये हो, जिससे युद्ध छोड़कर भागने की चेष्टा कर रहे हो। अतः अकारण ही लोग तुम्हारी निन्दा न करेंगे, इस बात को तुम्हें समझना चाहिए तथा मोह को त्यागना चाहिए। अनन्तर भगवान् कहते हैं—

"अथ चैन नित्यजात नित्य वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्व महाबाहो नैन शोचितुमर्हसि॥"

आत्मा की नित्य उत्पत्ति होती है एव उसकी मृत्यु भी नित्य होती रहती है, इस बात को भी यदि स्वीकार करो, तो भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि मृत्यु अनिवार्य है—यह सभी जानते हैं। जिस दिन बालक उत्पन्न हुआ, उसी दिन से वह मृत्यु की ओर अग्रसर होने लगा। इसलिए वे कहते हैं कि इस अनिवार्य विषय को सोचने से लाभ ही क्या है? शरीर तो अवश्य ही नाश को प्राप्त होगा। फिर उत्पन्न भी होगा। तब फिर उसके लिए शोक क्यों? इस विषय में शोक करना मूर्खों का कार्य है।

"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥"

मनुष्य कहाँ से आया है, कोई नहीं जानता, कहाँ जाएगा, यह भी नहीं जानता। यहाँ के सब सम्बन्ध भी दो दिन के लिए हैं, यह बात भी जानी हुई है। तो फिर व्यर्थ में शोक क्यों? और यदि मनुष्य को अविनाशी आत्मा के रूप में जान चुके हो, तब तो उसकी मृत्यु कभी होगी नहीं, यह बात निश्चित है। तो फिर शोक क्यों?

"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन,
आश्चर्यवद्वदति तथैवचान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यःश्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥"

'उस आत्मा को कोई तो आश्चर्यचकित होकर देखता है, कोई उसके आश्चर्यमय स्वरूप को कहता है, कोई उसे आश्चर्य में होकर सुनता है, और कोई मन्दभाग्य व्यक्ति सुनकर भी उसके विषय में धारणा नहीं कर पाता है।'

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय॥"

'यदि तुम इस युद्ध में हार जाओगे, कर्तव्यपालन करते हुए सम्मुख युद्ध में यदि देह त्याग कर दोगे तो तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी, और यदि तुम जीत जाओगे तो तुम्हें राज्य मिलेगा, अतः युद्ध करो।' कैसे युद्ध करोगे?

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।"

'सुख-दुःख, जय-पराजय, लाभ-हानि को समान मानकर युद्ध करो।'

इससे तुमको पाप स्पर्श नहीं कर सकता। और किसी ओर ध्यान न

देना, केवल कर्तव्य तथा सत्य पालन के लिए युद्ध कर रहे हो, एक-मात्र इसी ओर ध्यान रखना। इस प्रकार से यदि हम संसार में कार्य कर सकें, यदि सदा इस भाव को मन में जाग्रत रख सकें, संसार में आकर लाभ-हानि की ओर दृष्टि न डालकर यदि ईश्वर के सेवक की तरह कार्यों को सम्पन्न कर सकें, तो किसी भी प्रकार से बन्धन नहीं हो सकता। शनैः शनैः हम मुक्ति की ओर ही अग्रसर होंगे। यही ज्ञानयोग की मूल बात है।

तृतीय अध्याय

ज्ञानयोग

(२७ दिसम्बर, १९०२ ई में विवेकानन्द समिति में प्रदत्त वक्तृता का सारांश।)

गीता प्रक्षिप्त नहीं है, यह बात मैं पहिले ही कह चुका हूँ। प्रक्षिप्त न होने का एक कारण है। शास्त्र के पढ़ने से पता चलता है कि हमारे देश के दार्शनिकों में एक असाधारण गुण था। उस गुण के कुछ अंश आजकल के देशी तथा विदेशी दार्शनिकों के जीवन में यदि आ जायँ, तो उससे जनता तथा उनको बहुत कुछ लाभ हो सकता है। हमारे देश के दार्शनिक केवल बुद्धि के द्वारा ही किसी विषय को प्रमाणित करके निश्चिन्त होकर नहीं बैठते थे, किन्तु जिससे उसको जीवन में परिणत किया जा सके, इसकी भी चेष्टा किया करते थे एवं कार्य में परिणत होने पर उस सत्य का जनता में प्रचार करते थे। श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकी से पता चलेगा कि उन्होंने गीता में जो कुछ भी कहा है, अपने जीवन की प्रत्येक घटना में उसका अनुष्ठान कर उसकी सत्यता को सिद्ध कर दिया है अथवा गीता में प्रचारित समूचे सत्य उनके जीवन में ही पहिले सम्यक् अनुष्ठित देखने में आते हैं। इससे गीतकार वे ही हैं, इस विषय में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता है।

योग के विषय में पहिले कुछ कह चुका हूँ। मन की शक्ति को

उद्देश्य की ओर पूर्ण रूप से संचालित करने का ही नाम योग है। देखते हैं कि कोई बालक प्रयत्न करने पर भी विद्यार्जन नहीं कर पाता है, परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होता है, इसका क्या कारण है? वह अपने मन की शक्ति को एक जगह केन्द्रित करने में असमर्थ है, अन्यान्य कुछ विषयों में भी उसका मन सदा फँसा रहता है, वह मन को सम्पूर्णतया समेटकर एक विषय में नहीं लगा पाता है। मन की शक्ति दूसरी ओर व्यय हो जाती है, इसीलिए वह ध्येय-विषय पर अधिकार नहीं कर पाता। चाहे ध्येय कुछ भी क्यों न हो उसमें पहुँचने के या उसे प्राप्त करने के सहज उपाय का नाम ही योग है। वह सहज उपाय क्या है? —शरीर तथा मन की सारी शक्ति को समेटकर उस विषय में लगा देना। चाहे धन लाभ करना हो या धर्मलाभ, अथवा दूसरे के कल्याण के निमित्त कोई कार्य हो या उसकी सफलता के लिए दूसरा ही कोई कार्य हो, अथवा दूसरे के कल्याणार्थ सहज उपाय का साधारण नाम ही 'योग' हो सकता है। सम्पूर्ण मन को एकत्रित करने की शक्ति कहाँ से प्राप्त होगी? सब शक्तियाँ ही हमारे अन्दर हैं, क्योंकि आत्मा ही समस्त शक्तियों का केन्द्र-स्थल है। शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि उसके यन्त्रमात्र हैं। उन सब यन्त्रों को लेकर उनके द्वारा यह अद्भुत खेल रचा गया है। यन्त्र के बिगड जाने से जिस प्रकार उससे कोई विषय अच्छी तरह से सम्पन्न नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मन और बुद्धि मलिन होने पर आत्मा का खेल भी बिगड जाता है। उनकी अशेष शक्ति का विकास नहीं हो पाता है। किन्तु मन, बुद्धि यदि अत्यन्त शुद्ध हों, सत्त्वगुण-विशिष्ट हों, तो आत्मनिष्ठ शक्ति का अद्भुत विकास होने लगता है।

साधारणतया योग शब्द का प्रयोग अन्य अर्थों में सम्भव होने पर भी हमारे शास्त्रों में वह केवल धर्म के लिए ही व्यवहृत हुआ है। अब यह देखना चाहिए कि ज्ञानयोग किसे कहते हैं। परमहंसदेव कहा करते थे कि एक-ज्ञान ही ज्ञान है, बहु-ज्ञान अज्ञान है। किसी को किसी विषय में वास्तविक ज्ञान प्राप्त हुआ है, यह हम कब कहेंगे ?— जब उसे उस ज्ञान का प्रकाश सब जगह सब वस्तुओं में दिखाई पड़े। जिसको स्वर-ज्ञान है, वह सब शब्दों में उसी की तरङ्गों को देखता है। कोई चीज़ गिरी, कोई गाड़ी वेग से चली, किसी ने कोई बात कही, ये सब विभिन्न ध्वनियाँ किस स्वर के कौन से पर्दे में हुईं, उनको वह समझ सकता है तथा कह भी सकता है। यहाँ तक कि भिन्न भिन्न ध्वनियों के भिन्न भिन्न रूपों को भी देख पाता है। रंग की लहरों में भी वह स्वर की तरङ्गों को देखता है। सम्पूर्ण जगत् उसके समीप एक अपूर्व स्वर-लहरी मात्र है एवं नाद ही जगत्-कारण ब्रह्म के रूप में प्रतीत होने लगता है। पियागोरस को यह अनुभव होता था कि सूर्य-चन्द्र के परिभ्रमण के साथ ही साथ एक अपूर्व स्वर-लहरी ध्वनित हो रही है। वे उसको Music of the Spheres कहा करते थे। परमहंसदेव को यह अनुभव होता था कि सम्पूर्ण जगत् में एक अपूर्व ओंकार की ध्वनि उठ रही है। पक्षी के रव में, नदी की तरङ्गों में, समुद्र के कल्लोल में वही ॐ ॐ ध्वनि है। सर्वत्र सभी शब्दों में सदा वही अनाहत नाद ध्वनित हो रहा है।

यह बात जिस प्रकार स्वर-ज्ञान के सम्बन्ध में मानी जाती है, उसी प्रकार अन्यान्य विषयों को भी समझना चाहिए। जिसको रूप या रस का

ज्ञान है उसके समीप समग्र जगत् रूप व रस का विकारमात्र अनुभूत होने लगता है। ब्रह्मज्ञान सबको ही है। सुख-दुःख का ज्ञान भी सभी के लिये होता है। स्थूलदृष्टि से जिन वस्तुओं को हम जड़ समझ रहे हैं, वे भी आघात के प्रतिघात स्वरूप अपने अस्तित्व तथा कुछ न कुछ ज्ञान का परिचय दे रही हैं। आहार, निद्रा, भय इत्यादि का ज्ञान पशु, पक्षी एवं मनुष्यों में समान रूप से विद्यमान है — "ज्ञानमेतन्मनुष्याणां यत्तेषां मृगपक्षिणाम्" (दुर्गासप्तशती); किन्तु उस ज्ञान को हम ज्ञान नहीं कहते हैं। कुछ विषयों में जब हम एक ही शक्ति का विकास तथा एक ही नियम के खेल को देख पाते हैं, तभी उसे ज्ञान कहते हैं। फल पककर पेड़ से नीचे गिरा, ढेला फेंका — धरती पर आ गिरा, मनुष्य कूदकर आकाश में नहीं चढ़ सका, पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूम रही है इत्यादि ज्ञानों को जब तक हम एक शक्ति से उत्पन्न नहीं देख पाए थे, तब तक उन बहु ज्ञानों के द्वारा ज्ञान के मार्ग में हम अधिक अग्रसर नहीं हो सके थे। किन्तु ज्योंही मालूम हुआ कि ये सब 'माध्याकर्षण' नाम की एक शक्ति के परिणाम-स्वरूप हो रहे हैं, त्योंही हमारा ज्ञान कितना व्यापक हुआ, एक सूत्र में कितने विषयों को जोड़ने में हम समर्थ हुए — इन बातों का विशेष उल्लेख करके समझाने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार पृथक् पृथक् पदार्थ तथा अनुभवों को विभिन्न श्रेणियों में सम्बद्ध करने का नाम ही ज्ञान है। ये असंख्य भिन्न भिन्न श्रेणियाँ कुछ और श्रेणियों के अन्तर्भूत देखने में आती हैं एवं शास्त्र कहता है कि वास्तव में ज्ञानी वही है, जो इन सब श्रेणियों को एक के अन्तर्भूत देख पाता है। इस एक-ज्ञान का एक बार उदय होने पर फिर

कभी अज्ञान नहीं रह सकता; इसलिए गीता कहती है कि ज्ञानी वही है, जो सदा सर्वत्र उस एक का प्रकाश देखता है। इन बहुज्ञानों में जो उस एक को देख पाते हैं, 'एको बहूनाम्', वही मृत्युञ्जय बनते हैं तथा सुख-दुःख का अतिक्रमण करते हैं।

श्रीकृष्ण के उपदेश तथा जीवन में सर्वत्र यही शिक्षा देखने में आती है कि ज्ञान की सहायता से हम किस प्रकार उस एक के समीप पहुँच सकते हैं। वह एक चाहे कुछ भी क्यों न हो, इससे क्या मतलब है? जिससे यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है, वही लक्ष्य है, वहीं जाना पड़ेगा। उसको चाहे कुछ भी क्यों न हो — ईश्वर, भगवान्, काली या ब्रह्म — यथार्थतया निरूपण करने पर न तो वह स्त्रीलिङ्ग है, न पुलिङ्ग और न क्लीव लिङ्ग ही। अब उस एक-ज्ञान को प्राप्त करने का उपाय क्या है? परमहंसदेव कहा करते थे कि यदि अपने लाभ-हानि को भूलकर किसी विषय में मन को सोलहों आने डुबा सको, तो उस एक-ज्ञान में अवश्य ही पहुँच जाओगे। साधु हो या विषयी, यदि सोलहों आने एकाग्र चित्त बन सको, तो उस एक का प्रकाश देख सकोगे। स्वदेश के लिए यदि कोई सोलहों आने मन लगाकर पागल बन सके, तो उस देश-हितैषिता के द्वारा ही उसके हृदय में उस एक का प्रकाश होगा। विज्ञान, सङ्गीत, शिल्प आदि चाहे जिस विषय की चर्चा क्यों न करो, यदि सोलहों आने मन लगाकर उसे कर सको, तो वही तुमको उस ज्ञान के पथ पर ले जायेगा। यह परमहंसदेव की बात है। अत्यन्त नयी बात है, साथ ही अद्भुत सत्य भी! सुनने में जितना सरल है, करने में उतना ही कठिन है। सभी

विषयों में यही बात पायी जाती है। जो अत्यन्त सहज है, वही फिर अत्यन्त कठिन है। जो अत्यन्त निकट में है, वही फिर अत्यन्त दूर है। गले में हार है, किन्तु चारों ओर ढूँढ़ रहा हूँ, प्रायः ऐसा भ्रम हो जाता है। आत्मा तो अत्यन्त निकट में है न, इसलिए समझ नहीं पाते हैं। वह जो हमारे भीतर है, इस बात का हम विश्वास नहीं करते। उसको देखने के लिए पहाड़, पर्वतादि विभिन्न स्थानों में भ्रमण कर, उपवास कर ढूँढ़-ढूँढ़कर हैरान हो अन्त में देखते हैं कि वह तो हमारे ही अन्दर है। परमहंसदेव कहा करते थे कि मनुष्य का मन मानो जहाज़ के मस्तूल पर बैठा हुआ एक पक्षी है। किसी समय एक पक्षी किसी जहाज़ के मस्तूल पर जा बैठा था। चलते चलते जहाज़ क्रमशः बीच समुद्र में जा पहुँचा। पक्षी बैठा बैठा हैरान होकर अन्य स्थान में जाने की इच्छा से उड़ा। किन्तु चारों ओर जल ही जल था। उड़-उड़कर कहीं भी जमीन न पाकर परिश्रान्त हो अन्त में उस मस्तूल पर ही आ बैठा। मनुष्य का मन भी उसी प्रकार चारों तरफ विभिन्न विषयों का अनुसन्धान करता हुआ परिश्रान्त होकर अन्त में अपने अन्दर उस एक को प्रत्यक्ष कर निश्चिन्त होता है।

सदा सबके भीतर वर्तमान रहने पर भी शुद्ध बुद्धि के लिए उस 'एक' का ज्ञान अत्यन्त निकट है, बद्ध-जीव की जड़ बुद्धि से वह अत्यन्त दूर है। ज्ञानयोग का साधन करना या उसको जीवन में परिणत करना अत्यन्त कठिन है। जिनकी बुद्धि अत्यन्त शुद्ध है, वे ही इसका अनुष्ठान कर सकते हैं। विचारपूर्वक किसी विषय की ठीक उपलब्धि करके जब तत्काल ही उसे कार्य में परिणत कर सकोगे,

तभी तुम ज्ञान-साधन के योग्य अधिकारी समझे जाओगे। मन में वासना हुई कि बड़ा आदमी बनूँगा, देश भर में सर्वमान्य होऊँगा, किन्तु विचारने पर विदित हुआ कि इस क्षणस्थायी जीवन में नाम या यश की अपेक्षा भगवान् को प्राप्त करने की चेष्टा ही अधिक उपयुक्त है। फिर भी मन को वशीभूत करने में असमर्थ होकर यदि तुम धन-मान के लिए ही दौड़-धूप करते रहो, तो तुमसे ज्ञानयोग का अनुष्ठान नहीं हो सकता, तुम्हारा मार्ग दूसरा है। जो ज्ञानयोग का साधक है, मन उसकी मुट्ठी के भीतर होगा, उसके अधिकार में रहेगा, वह जो कुछ आदेश देगा, मन को वही करना पड़ेगा। भगवान् ईसा ने जब अपनी अन्तर्निहित शक्ति के विकास के लिए चालीस दिन का उपवास कर तपस्या की थी, तब शैतान उनको प्रलुब्ध करने के लिये उपस्थित हुआ। धन, मान, राज्य-सम्पद, सुन्दरी स्त्री आदि प्रदान करने चाहे। इसे सुनकर वे तत्काल ही कह उठे, Get thee behind me, Satan! वासना-शैतान, दूर हो। हम लोगों के अन्दर भी वैसी ही अनवरत वासनाएँ उठ रही हैं। अनेक जन्मों की समस्त वासनाएँ प्रकट हो रही हैं। जब तुम सत् उद्देश्य से जन-कल्याण के लिए किसी कार्य को सम्पादन करने जा रहे हो, उस समय रक्त-बीज* के वश की तरह सैकड़ों वासनाएँ एक साथ जाग्रत होकर तुम्हें विचलित कर देती हैं। जो इन्द्रिय-जयी हैं, वे उन सब वासनाओं को देख पाते है एव उनको मन से दूर भी कर सकते हैं। किन्तु सस्कार यदि अधिक दृढ़ हों तो केवल

---

* असुर-विशेष का नाम है, जिसका एक बूँद खून धरती पर गिरने मात्र से दूसरे उसी प्रकार के असुर का आविर्भाव होता था। (दुर्गासप्तशती, अध्याय ८)

विचार के द्वारा उनको दूर नहीं किया जा सकता। उन लोगों के लिए भिन्न मार्ग है। संस्कार अल्प होने पर विचार के द्वारा मन को ठीक रखा जा सकता है। ज्ञानयोग का जो साधन करते हैं, उनकी वासना इतनी अधिक प्रबल नहीं है, मन सहज ही में उन वासनाओं को अपने अधिकार में ला सकता है एवं अविचलित रहता है।

भगवान् श्रीकृष्ण के निजी जीवन में महाज्ञानी का परिचय पग पग पर देखने को मिलता है। जीवन के अत्यन्त सङ्कट-स्थल में भी समुद्र की तरह उनमें कितनी अद्भुत स्थिरता तथा गम्भीरता पाई जाती है। पुष्प-फल सुशोभित मधुर वृन्दावन में, शत्रु से घिरी हुई मथुरा नगरी में, राजकुल-सम्मानित हस्तिनापुर में, राग-द्वेषपूर्ण रण-स्थली में, पूर्व-स्मृति-मुखरित प्रभासक्षेत्र में तथा अपने वंश-ध्वंस के समय भी वही स्थिर, अचल, अटल भाव विद्यमान है। यदुकुल-ध्वंस होने के पूर्व ही उन्होंने देखा कि कार्यकारण-प्रवाह के फलस्वरूप यह नाश अवश्यम्भावी है। इन लोगों के कर्मों के द्वारा ही इस भीषण फल का जन्म होगा। सभी प्रकार से चेष्टा करने पर भी जब उसका परिवर्तन न हो सका, तब महाज्ञानी गीताकार ने अविचलित हृदय से अपने वश के निधन को देखा। अपने सामने ध्वंस हुआ चला जा रहा है, फिर भी मन अविचलित रूप से शान्त है। स्वामीजी* कहा करते थे कि गीता का भाव Intense activity में Intense rest अर्थात अविराम कार्य में अद्भुत विश्राम है, योगी का अविचल भाव है। गीता के विषय में ऐसा एक चित्र अंकित कराने की इच्छा स्वामीजी की थी

* स्वामी विवेकानन्दजी।

—सारथी-वेश में श्रीकृष्ण घोड़े की लगाम पकड़कर सेनाओं के बीच में रथ चला रहे हैं, ऐसे समय में विषादाभिभूत अर्जुन के यह कहने पर कि युद्ध नहीं करूँगा, एक हाथ से वेगशाली अश्वों की लगाम को थामकर अर्जुन की ओर मुख मोड़कर देख रहे हैं, शरीर के द्वारा घोड़ों को रोकने के महान् प्रयास के साथ ही साथ उनके मुखमण्डल पर योगी-जन-सुलभ मन की पूर्ण शान्ति का द्योतक भाव अंकित है। भयंकर कुरुक्षेत्र संग्राम में भी उनके मन के इस अपूर्व प्रशान्त भाव को चित्रित कराने की प्रबल इच्छा स्वामीजी की थी। इस युद्ध में कितने राजा-महाराजा मरेंगे, किस पक्ष की जय या पराजय होगी, इसका भी कोई निश्चय नहीं है। सभी लोग अधीर, आत्मविस्मृत तथा उन्मत्तप्राय हैं, किन्तु वे स्थिर, अटल, अचल होकर दूसरों के कल्याण के लिए, धर्म-संस्थापन के लिए सब कुछ कर रहे हैं और फिर उसी समय योग के अत्यन्त गूढ़ विषयों की शिक्षा भी दे रहे हैं। इस प्रकार की दृढ़ता प्रत्येक मनुष्य को सीखनी चाहिए। कार्य करते करते हम लोगों में कार्य की मत्तता आ जाती है। यही खराब है। तब हम कार्य का संचालन नहीं कर पाते हैं, प्रत्युत कार्य ही हमको परिचालित करता है, इन्द्रियाँ ही हमको चलाती हैं। दास के चरणों में प्रभु नत हो जाता है, अहंकारी दास प्रभु के प्रति चाहे जैसा व्यवहार करने लगता है। इस जीवन-संग्राम में, कार्य-क्षेत्र में सदा इसीलिए हमें अविचलित रहना होगा। इसीलिए गीता की शिक्षा केवल सन्यासी या संसारी के लिए न होकर सब देश, सब काल तथा सब लोगों के लिए उपयुक्त है। इसीलिए गीता का दूसरा नाम गीतोपनिषद् है, क्योंकि सार्वजनीन

उदारता ही उपनिषद् के ज्ञान तथा शिक्षा की विशेषता है, सब प्रकार के अधिकारियों के लिए भिन्न भिन्न व्यवस्था प्रदान कर उपनिषद् के ऋषियों ने मुक्त कण्ठ से प्रचार किया है — 'मनुष्य, तुम अमृत के अधिकारी हो, अमृत ही तुम्हारा स्वरूप है, भ्रम में पड़कर चाहे तुम अपने को आर्य, म्लेच्छ, ब्राह्मण, शूद्र इत्यादि कुछ भी क्यों न मानो, वह तुमको कभी आबद्ध नहीं कर सकता। तुम स्वतन्त्र, स्वतन्त्र, चिरस्वतन्त्र हो।' गीता में इस अपूर्व उदारता को देखकर ही माहात्म्यकार ने लिखा है कि समस्त उपनिषदों का मन्थन कर गीता की उत्पत्ति हुई है।

हमको जीवन-संग्राम की इस मत्तता में, इस प्रकार योगी की तरह दृढ़ता लानी चाहिए। कार्य करने के लिए उद्यत होने पर एक Reaction अर्थात् प्रतिक्रिया होती है, उससे बचना चाहिए। तभी तुम्हारे द्वारा यथार्थत महान् कार्य सम्पादित हो सकता है, तभी तुम वस्तुत: मनुष्य नाम के अधिकारी बन सकते हो। फलाकांक्षाजनित यह कर्मोन्मत्तता कितने समय कितना विषमय फल प्रसव करती है, यह विशेषकर बतलाने की आवश्यकता नहीं। वाणिज्य-व्यवसाय में हानि देखकर कितने ही जन निराशा के सागर में डूब जाते हैं, फिर कभी निकल नहीं पाते, परीक्षा में उत्तीर्ण होने की मत्तता में आकर न जाने कितने ही छात्र चिरकाल के लिए एकदम रोगी बन जाते हैं! और फिर पूर्ण चेष्टाएँ करने पर भी उत्तीर्ण न होने के कारण छात्रों में समय समय पर आत्महत्या की घटनायें भी देखने में आती हैं।

इस मत्तता में इस प्रकार की दृढ़ता लाने की शिक्षा सबके लिए

ही आवश्यक है, विशेषकर संसारी लोगों के लिए, क्योंकि उनके लिए सासारिक तथा पारमार्थिक सभी विषयों में उन्नति-लाभ करने का एक-मात्र उपाय है कर्म, एवं कर्म में इस प्रकार की दृढ़ता लाने पर उद्यम का किंचिन्मात्र भी ह्रास होने की सम्भावना नहीं है, यह बात गीताकार के ही निजी जीवन में पूर्णतया प्रमाणित हो चुकी है।

श्रीकृष्ण के समग्र जीवन के साथ गीता की शिक्षा को मिलाकर देखो। देखोगे कि इनमें किंचिन्मात्र भी भिन्नता नहीं है। अपने स्वार्थ के लिए कर्म न किए जाने पर भी उनका अकेले का कर्मोद्यम असख्य लोगों के उद्यम से कहीं अधिक देखने को मिलता है। वृन्दावन की क्रीड़ाओं में, मथुरा तथा द्वारका के राज्य-सम्पद् में, यदुवश-ध्वस के समय या कौरव-पाण्डव के युद्धक्षेत्र में, चाहे जहाँ भी देखो, सभी जगह कार्य की अपूर्व मत्तता के अन्दर उनके हृदय में यह अपूर्व दृढ़ता व शान्ति देखने को मिलेगी। कहा जाता है कि कुरुक्षेत्र के युद्धारम्भ से पहिले उन्होंने राजा दुर्योधन को एकादश अक्षौहिणी नारायणी सेना प्रदान की थी। दुर्योधन ने सोचा कि अकेले श्रीकृष्ण यदि उनके पक्ष में सम्मिलित न हुए तो क्या? उनका अकेले का उद्यम तो एकादश अक्षौहिणी सेना के उद्यम के समान नहीं हो सकता। किन्तु कार्यक्षेत्र में ठीक इसके विपरीत पाया गया। उनके उद्यम तथा प्रयत्न, आपत्ति काल में उनकी अनन्त उपाय-उद्भाविनी शक्ति, निराशा के घोर अन्धकार में उनकी प्राण-सचारिणी अग्निमयी वाणी, और फिर मृत्यु की छाया में, स्वपक्ष के पराजय में उनकी अपूर्व अप्रमादहीनता तथा चित्त की प्रसन्नता, इन सब गुणों ने उनको न केवल एकादश अक्षौहिणी

ही, किन्तु भारत-सग्राम में आए हुए उभयपक्षीय समस्त वीरों के सम-तुल्य बना दिया था।

यही ज्ञानयोग का निष्कर्ष है। ज्ञानयोग का साधन है 'नेति नेति' विचार, अर्थात् एकत्व की ओर जाने के मार्ग में जो कुछ बाधाएँ हैं, उनका 'नेति नेति' विचारपूर्वक परित्याग। ज्ञानयोग की बातों को सुनकर अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं, 'ज्ञानी तथा स्थितप्रज्ञ होने पर मनुष्य के लक्षण, चाल-चलन, आचार-व्यवहार इत्यादि किस प्रकार के होते हैं?'—इस प्रबल वेगशाली कर्म-प्रवाह में जो अपने जीवन में सदा स्थिर-भावों को बनाए रखने में समर्थ हैं, उनकी बातचीत, चाल-चलन एव दूसरों के साथ व्यवहार आदि किस प्रकार के होते हैं? सिद्ध पुरुषों ने संसार में जिस प्रकार से कार्यों का अनुष्ठान किया है, उसको हमारी शिक्षा के लिए गीता तथा अन्यान्य शास्त्रों में लिपिबद्ध किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि उनके चाल-चलन को देखकर हम शिक्षा कैसे ग्रहण करेंगे? हम तो जड़बुद्धि, कर्मफल को चाहनेवाले, काम-काञ्चनलुब्ध जीव हैं, उनकी तरह हमारे जीवन का कोई महान् ध्येय तो है नहीं। नहीं है यह बात सत्य है, किन्तु उस प्रकार का वैराग्य एव नि.स्वार्थ उद्यम जीवन में लाए बिना उन्नति की आशा ही कहाँ है? साथ ही हम लोगों में से जो गुरु के उपदेशानुसार किसी विशेष उद्देश्य को लेकर जीवन को चलाने की चेष्टा कर रहे हैं, कर्म के आवर्त में पड़कर बहुधा उनको क्या करना चाहिए, इसका कुछ वे निर्णय नहीं कर पाते हैं। अथवा उस मार्ग पर चलने से जो नवीन नवीन भाव एव अनुभव उनके जीवन में उपस्थित होते हैं, वे सब ठीक हैं या

नहीं, इस सन्देह से जब उनका मन व्याकुल हो उठता है, तब इन जगद्गुरुओं के चरणों के समीप खड़े होकर उनके जीवन के अनुभवों के साथ अपने अपने जीवन की उपलब्धियों की तुलना करके और दोनों में समानता देखकर वे संशयों के हाथ से मुक्ति पाकर पुनः प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं। इसीलिए शास्त्र का कहना है कि सिद्ध पुरुषों के लक्षणों को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए साधकवर्ग अपने जीवन में उनको अपनाने की चेष्टा करे। यही उसके लिए प्रधान साधन है।

साधक के अपने जीवन की उपलब्धि के साथ गुरुवाक्य तथा शास्त्रवाक्य के ऐक्य होने पर उस अनुभव में फिर किसी प्रकार की भूल नहीं है, इस बात को भी ध्यान में रखने के लिए शास्त्र बतलाता है। शुकदेव आजन्म ज्ञानी होकर भी जब तक अपने उपलब्ध-ज्ञान को गुरु एव शास्त्रवाक्य से न मिला पाए थे, तब तक उनका अपना अनुभव ठीक है या नहीं ऐसा सन्देह उनके हृदय में कभी कभी उत्पन्न होता था एव इस सन्देह को दूर करने के उपाय के बारे में उन्होंने महर्षि व्यास से पूछा। व्यासदेव विचारने लगे, 'मैं शुक का पिता हूँ, मेरी बातें वह बाल्यकाल से सुन रहा है, उससे भी जब उसका सन्देह दूर न हुआ, तो इसके लिए दूसरे उपाय की आवश्यकता है।' ऐसा सोच-विचारकर उन्होंने शुक को राजर्षि जनक के पास जाकर, उन्हें गुरु बनाकर उपदेश लेने के लिए कहा। जनक के भवन में जाकर शुक को सात दिन तक दरवाज़े पर ही खड़े रहना पड़ा, किसी ने उनकी बात तक न पूछी। इस प्रकार की अवज्ञा से

भी उनके चित्त में राग-द्वेषादि का उदय नहीं हुआ। अनन्तर राजर्षि जनक भवन में उन्हें ले जाकर उनका विशेष सम्मान तथा अद्भुत सेवा करने लगे। इस प्रकार के सम्मान से भी शुक अपने उद्देश्य को नहीं भूले। तब जनक ने उनको ब्रह्मज्ञान की समता एव अविचलता को समझाया। जनक की बातें सुनकर अपने पिता से जिन शास्त्रों का अध्ययन किया था, उन शिक्षाओं को तथा अपनी उपलब्धियों को मिलाकर देखने पर जब शुकदेव को एकता मिली, तब उनका सारा सन्देह दूर होकर मन में शान्ति का उदय हुआ।

अब ज्ञानी के लक्षण के सम्बन्ध में गीता क्या कहती है, यह देखना चाहिए।

"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥"

समस्त वासनाओं से मुक्त होकर जो अपने में रमते हैं, जिन्होंने काम-क्रोधादिकों को अपने वश में कर लिया है, जो इन्द्रियों के वशीभूत न होकर अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इन्द्रियसमूह को परिचालित करते हैं वे ही यथार्थ ज्ञानी हैं। ज्ञानी पुरुष भी हम लोगों की तरह इन्द्रियों के द्वारा कार्य करते रहते हैं, किन्तु कभी अपने उद्देश्य को नहीं भूलते। इन्द्रियसमूह उनके अधीन है एवं वे उसके प्रभु हैं, इस बात का वे सदा ध्यान रखते हैं। इसी बात को हम सदा भूल जाते हैं। अत इन्द्रियाँ जिस ओर हमको चलाती है, उसी ओर हम दौड़ने लगते हैं। उपनिषद् का कथन है कि आत्मा मानो रथी है और इस शरीररूप रथ में आरूढ़ है, इन्द्रियाँ उस रथ के घोड़े हैं और मन

उनकी लगाम है। बुद्धि-सारथी उस लगाम को पकड़कर घोड़ों को रूप-रसादि विषयों के मार्ग में से होकर ज्ञान तथा शान्तिरूप लक्ष्य-स्थल की ओर चला रहा है। शिक्षा के प्रभाव से सारथी का अपना मस्तिष्क ठीक रहने पर उन बिगड़े हुए घोड़ों को उस प्रकार के दुर्गम-मार्ग से भी वह ठीक ठीक चलाकर ले जाता है। और वैसा न होने पर घोड़े लगाम के वशीभूत न होकर उस मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग में चल देते हैं, यहाँ तक कि कभी गाड़ी को भी उलट देते हैं। घोड़ों को चलाकर शुद्ध-बुद्धि गन्तव्य स्थान में ठीक पहुँच जाती है। किन्तु घोड़ों के वशीभूत होकर काम-काञ्चनबद्धदृष्टि मलिन विषय-बुद्धि सर्वनाश के पथ पर अग्रसर होती है।

ज्ञानी का दूसरा लक्षण यह है कि वह सुख दुःख इन दोनों ही अवस्थाओं में अविचलित रहता है। हम स्वार्थपर हैं, अपने सुख के लिए लालायित हैं। किंचिन्मात्र भी दुःख उपस्थित होने पर हम एक-दम आत्मविस्मृत हो जाते हैं; दूसरों का उपकार करना तो दूर रहा, हम अपनी इच्छाओं के वशीभूत होकर अपने को ही विपद्‌ग्रस्त कर लेते हैं। अपने घर के समीप 'प्लेग' की बीमारी होती है, किन्तु हम निश्चिन्त होकर बैठे रहते हैं। देश में जो इतने दुर्भिक्ष हो रहे हैं, उसके लिए हम क्या कर रहे हैं? यदि यूरोप के किसी स्थान में ऐसा होता, तो वहाँ के सब लोग एकदम बिगड़ उठते और कहते कि दुर्भिक्ष क्यों होगा?—हमारे देश में लाखों लोग भूखे क्यों मरेंगे? उसको दूर करने के लिए वे अपने जीवन का बलिदान कर देते। हम इस विषय में जड़ हैं, महा तमोगुणी हैं, कार्य करने में एकदम आलसी हैं। डिग्वी

साहब ने लिखा है कि विगत १०७ वर्षों की लड़ाई में पृथ्वी में जितने लोग मरे हैं, इस भारतवर्ष में उससे चार गुना अधिक लोग विगत १९ वर्षों के दुर्भिक्ष में मरे हैं। कितनी भीषण घटना है ! फिर भी हम चिल्ला-कर कहते हैं तथा गर्वानुभव करते हैं कि हमारे बाप-दादे बहुत बड़े आदमी थे। भले ही हों वे बड़े आदमी, किन्तु तुम्हारे कर्मों को देख-कर तुमको उनका वंशधर नहीं कहा जा सकता; तुम क्या कर रहे हो, इस बात को एक बार सोचो तो सही। 'मैं ब्राह्मण हूँ, जगत्पूज्य हूँ' तुम्हारे इस कथन से क्या होगा ? जिस सात्विक भाव को लेकर ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व है, उसका तो एकदम लोप होकर तुममें महान् जडत्व आने लगा है। और ये मलिनमुख छिन्नवस्त्र, भारत के श्रम-जीवी, जिनको क्षुद्र कहकर चिरकाल तक तुमने पददलित किया है, फिर भी जिनके परिश्रम, जिनके प्रयत्न, जिनके शिल्प-नैपुण्य के बल पर आज भी भारत प्रसिद्ध है, जिनके वंशजों से कर वसूल कर अभी तक देश में स्कूल, कालेज तथा तुम्हारे बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था हो रही है, उनकी ओर क्या तुम एक बार भी आँखें खोलकर देखते हो, अपना समझते हुए उनके दुःख में क्या एक बार भी दुखी होते हो ? इस राष्ट्रीय पाप के फलस्वरूप ही आज देश की यह शोचनीय अव-नति हुई है। हम समझें या न समझें, कर्मफलदाता कर्म का फल तो अवश्य ही देंगे। मन और वाणी एक न करने से यही दशा होती है। हम मुँह से कहते हैं कि घट-घट में नारायण हैं और सब नारियों में देवी जगदम्बा का आविर्भाव है, किन्तु कार्य-क्षेत्र में हम किसी को हेय और किसी को चाण्डाल समझते हैं, किसी को छूने से नहाने

की आवश्यकता होती है, किसी की दृष्टि पड़ने पर भोजन नष्ट होता है तथा किसी की छाया स्पर्श करने से अपनी अपवित्रता की धारणा होती है। इस प्रकार मुँह में कुछ और मन में कुछ — इस तरह की भावना यदि किसी की चेष्टा से कभी हमारे देश से दूर हो सकती हो, तो वह एकमात्र छात्रों के द्वारा ही होगी। यदि छात्रवर्ग अभी से शास्त्रवर्णित इन सत्यों को हृदय में दृढ़ रूप से धारण कर प्राणपण चेष्टा के द्वारा देश की इस अज्ञानता को दूर करे, तभी यह सम्भव है।

ज्ञानी के लक्षण के बारे में गीता फिर कहती है — 'वीतराग-भयक्रोधः।' मैं किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न एवं चेष्टा कर रहा हूँ। उस समय यदि कोई बाधा-विघ्न उपस्थित हो जाय, तब मन में जिस भाव का उदय होता है, उसी का नाम क्रोध है तथा कुछ लाभ करने के लिये अत्यन्त आग्रह का नाम ही राग या काम है। जिसको ये काम-क्रोध नहीं हैं, उसकी किसी विषय में आसक्ति नहीं रहती। हम कोई भी कार्य क्यों न करें, यदि आसक्त न होकर उसका अनुष्ठान कर सकें, तो वही हमको एक-ज्ञान की ओर ले जायेगा। तब हम देखेंगे कि ध्यान-जपादि की तरह प्रतिदिन के साधारण कर्म भी हमें योगियों के चरम लक्ष्य एक-ज्ञान की ओर ले जा रहे हैं। अत आसक्ति को नहीं आने देना चाहिए। उद्देश्य ऊँचा बनाकर सब कार्य करने होंगे, साथ ही अविचलित रहना होगा। ज्ञानी पुरुष जिन कार्यों को करते हैं, उन्हें वे स्वार्थजनित काम-क्रोधादिकों के वशीभूत होकर नहीं करते। अत॰ इन्द्रियों पर विजय पाना, स्वार्थपूर्ण कामना-वासनाओं का परित्याग करना तथा सुख-दु ख में अविचलित

रहकर अपने उद्देश्य में स्थिर बनें रहना ही ज्ञान-लाभ का उपाय है।

अनन्तर गीताकार ज्ञान की महिमा के विषय में कह रहे हैं—

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥"

'हे पार्थ, ब्रह्म में बुद्धि को स्थिर रखना इसी का नाम है।' एक बार जीवन में इस भाव का उदय होने पर फिर कभी शोक-मोहादि उपस्थित हो कष्ट नहीं दे सकते। मृत्यु के पूर्व क्षण में भी एक बार यह भाव ठीक ठीक उदित होने पर मृत्युञ्जयी बना देता है। अतः यदि ज्ञानी बनना हो तो 'नेति नेति' कर सब कुछ त्याग दो। अद्वैतज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् यदि कार्य करना चाहो तो कर सकते हो। सत्य के लिए यदि सब कुछ त्याग न सको, तो तुम्हारा मार्ग 'कर्मयोग' है। यह कह सकते हो कि कर्म तो सभी कर रहे हैं, उसके अनुष्ठान से ज्ञान-लाभ किस प्रकार से हो सकता है? यह बात नहीं है। अपने भोग-सुखादि के लिए हजारों वर्ष पर्यन्त कर्मानुष्ठान करने पर भी वह कभी हमको एक-ज्ञान की ओर नहीं ले जायेगा। जैसे शीतोष्ण, सुख-दुःखादि साधारण ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं हैं, पशु तथा मनुष्य में वे समान रूप से विद्यमान हैं, वैसे ही अपने सुख के लिए अनुष्ठित कर्म यथार्थ कर्म नहीं है। उस प्रकार का कर्म भी 'सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।' उस प्रकार का कर्म बन्धन पर बन्धन ही ला देता है। अत. कर्म करने की कुशलता जाननी चाहिए। अन्यथा हम सभी कर्मानुष्ठान कर रहे हैं। चुपचाप बैठे रहने का उपाय ही कहाँ है? जड़ चेतन सभी में कर्म की यह गति अविच्छिन्न रूप से चल

रही है। मन तथा बुद्धि में भी वह गति सर्वदा विद्यमान है।

'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।'

सभी अपने स्वभावनिहित गुण के वशीभूत होकर कर्म कर रहे हैं। जिस व्यक्ति में काम अधिक है, वह काम की चेष्टा में फिर रहा है। जिसमें क्रोध अधिक है, वह उसका दास बनकर दौड़-धूप कर रहा है। जिसमें लोभ अधिक है, वह नित्य नवीन वस्तु के पीछे भाग भागकर हैरान हो रहा है और जिसका हृदय साधुता से परिपूर्ण है, वह भी सत्कार्य के अनुष्ठान में जीवन व्यतीत कर रहा है। इस प्रकार कर्म ने अपना विश्वव्यापी अधिकार जमा रखा है। प्रत्येक परमाणु के भीतर सर्वदा रासायनिक आकर्षण तथा विकर्षण का व्यापार चल रहा है। यह भी कर्म का रूपान्तर मात्र है। तुम्हारे मन के भीतर जैसे सर्वदा कार्य चल रहा है, वैसे ही उनके भीतर भी। अतः कर्म करने से ही एकत्व की प्राप्ति होती है, यह बात नहीं है। 'कर्मयोगेन योगिनाम्।' योग का आश्रय लेकर कर्मों का अनुष्ठान करना होगा, तभी यह सम्भव है। इस प्रकार से सब कर्मों को करना होगा कि जिससे वे कर्म एक-ज्ञान की ओर ले जायँ। गीता का कथन है कि कर्म का कभी भी परित्याग न करो। किन्तु ऐसी कुशलता से उनका अनुष्ठान करो कि जिससे काम-काञ्चन तुम्हें बाँध न सकें।

कर्म करना उचित है या नहीं, इस सम्बन्ध में गीता में अनेक बार अनेक बातें कही गई हैं, यह देखने में आता है। कर्म करना उचित है एवं जब तक शरीर रहेगा तब तक सबको ही किसी न किसी रूप से कर्म करना ही पड़ेगा, यह तो एक स्वतः-सिद्ध तथ्य है,

तो फिर इस विषय में गीताकार क्यों इतनी बातें बतला रहे हैं? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि गीता के उपदेश से पूर्व भारत में दर्शनों की चर्चा अत्यधिक हुई थी। दर्शनों के विभिन्न मतों को लेकर विभिन्न सम्प्रदायों की सृष्टि हुई थी। दर्शनचर्चा के फलस्वरूप यह सिद्धान्त भी स्थिर रूप से प्रतिपादित हुआ था कि मन ससीम है, नाम-रूप या देशकाल तथा कार्य-कारण-श्रृङ्खला के घेरे के बाहर जाने की शक्ति मन को नहीं है तथा कभी वह जा भी नहीं सकता। मन के इस ससीम स्वभाव के सम्बन्ध में सभी दार्शनिक एकमत थे। अत· सभी के अनुसन्धान का यही एकमात्र उद्देश्य बन गया था कि किस प्रकार से मनुष्य इस ससीम मन का अतिक्रमण कर अनन्त सत्य का अधिकारी हो सकता है। मन जब सीमावद्ध है, तब अनन्त को कभी वह प्राप्त नहीं कर सकता, अत. यह प्रचार भी किया गया था कि ऐसी दशा में मन को सम्पूर्ण रूप से अविचलित रखकर बैठे रहना ही सत्य को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। इस प्रकार के प्रचार के फलस्वरूप अन्यान्य साधारण लोग भी बिना ही समझे-बूझे इसी मार्ग पर चलने लगे थे। इन्द्रियों पर विजय पानेवाले पुरुष अपने मन को यथार्थत निश्चल बना सके, परन्तु स्थूलदर्शी अन्यान्य साधारण लोगों ने केवल बाह्यतः कर्मों का परित्याग किया, यहाँ तक कि कोई कोई तो नाममात्र के संन्यासी बने। साधारण लोगों की उस विपरीत बुद्धि को लौटाने के लिए ही कर्म करना उचित है या नहीं इस विषय को लेकर गीताकार को इतने तर्क करने की आवश्यकता हुई थी। इसीलिए यथार्थ कर्म क्या है, किस प्रकार से यथार्थ कर्म का अनुष्ठान किया जा सकता है एव यथार्थ

कर्मरहित होकर सब बन्धनों से पूर्णतया मुक्त होना क्या वस्तु है, इन विषयों को समझाने की उनकी इतनी चेष्टाएँ है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के तृतीय अध्याय में एवं चतुर्थ तथा पञ्चम अध्याय के अनेक स्थलों में कर्मयोग किसे कहते हैं, इस बात को विस्तारपूर्वक समझाया है।

चतुर्थ अध्याय

कर्मयोग

(१८ जनवरी, १९०२ ई में कलकत्ता विवेकानन्द-समिति में प्रदत्त वक्तृता का सारांश।)

यूरोप तथा अमेरिका के विद्वानों के मतानुसार भारतवर्ष के चाहे धर्म हो या दर्शन, उनमें केवल वैराग्य की बातें ही कही गई हैं;—संसार के किसी भी विषय में न फँसो, केवल त्याग करो, त्याग करो, यही बात कही गई है। उनका कहना है कि इसीलिए हिन्दू जाति में एक melancholy या विषाद की छाया है, कर्म में एक प्रकार की उदासीनता या उद्यम का अभाव है, दो दिन के जीवन के लिए यह सब क्यों, इस प्रकार का एक भाव विद्यमान है तथा उसके फलस्वरूप आलस्य व जड़ता का प्रादुर्भाव हुआ है। यह बात कहाँ तक सत्य है, गीता के पढ़ने से इसका पता चलता है। भगवान् गीताकार बार बार केवल कह ही नहीं रहे हैं कि कर्म को न छोड़ो, किन्तु अपने जीवन में भी प्रतिक्षण यही दिखा रहे हैं कि अपूर्व कर्म-उद्यम के भीतर अपूर्व विश्राम विद्यमान है—'Intense activity with intense rest'। वे सभी कार्य कर रहे हैं, फिर भी उनके अन्तर में अनन्त अविचल भाव विद्यमान है। इसी को गीताकार ने निर्लिप्तता, अनासक्ति इत्यादि नाम से निर्देश किया है। इसलिए

यूरोपीय पण्डितों का यह कहना कि हिन्दू शास्त्र ने मनुष्य को अकर्मण्य बना दिया है, सत्य नहीं है। वे समझते हैं कि उनके धर्म ने उनकी जाति को बहुत बड़ा लड़ाकू बनाया है एवं इसीलिए उनके अन्दर सांसारिक उन्नति तथा कर्म-उद्यम इतना अधिक पाया जाता है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। 'बाइबिल' के प्रत्येक स्थल में वैराग्य का उपदेश है — "The foxes have holes, and the birds of the air have nests, but the son of man hath not where to lay his head" — 'आने वाले दिन के लिए कुछ भी चिन्ता न करो, आकाश में उड़नेवाली चिड़ियों के भी घोंसले हैं, जंगल के पशुओं के रहने के लिए भी गर्त्त हैं किन्तु शिक्षादाता होने पर भी मेरा कोई रहने का स्थान नहीं है।' ईसा का जीवन हमारे देश के संन्यासियों के जीवन जैसा है — बाइबिल के पढ़ने से इस बात का पता चलता है। बाइबिल के अर्थ को बदलकर अब उन लोगों ने अपने प्रयोजन के अनुरूप बना लिया है। इससे क्या उनके ही अर्थ को मानना पड़ेगा? गीता कहती है कि मनुष्य का धर्मानुष्ठान उसकी प्रकृति के अनुसार होता है। Anglo-Saxon जाति सबको दबायेगी, सबके साथ युद्ध करेगी, क्योंकि उनके अन्दर रजोगुण भरा पड़ा है। वह जाति धर्म के मर्म को भी उसी प्रकार अपने सदृश समझेगी, इसमें विचित्रता ही क्या है? अन्यथा सभी धर्मों का मर्म एक ही है एवं उन सभी में पूर्णज्ञान तथा अमृतत्व लाभ करने का त्याग ही एकमात्र पथ बतलाया गया है, सभी धर्म इसी बात की शिक्षा मनुष्य को दे रहे हैं।

महाभारत तथा गीता के पढ़ने से पता चलता है कि क्या कर्म

है तथा क्या अकर्म, कौन कौन सा कार्य करना उचित है तथा कौन कौन सा अनुचित। साथ ही ज्ञान, जो कि मनुष्य-जीवन का ध्येय है, कर्म के द्वारा प्राप्त हो सकता है या नहीं, इस विषय को लेकर जिस किसी कारण से भी हो, उस समय एक संशय उपस्थित हुआ था। इसीलिए गीता में बार बार यह समझाने की चेष्टा की गई है कि ज्ञान और कर्म पृथक् नहीं हैं। कर्म का आश्रय लेने पर चित्त शुद्ध होगा एवं उसके द्वारा ही ज्ञान स्वय आकर उपस्थित होगा। किन्तु अर्जुन इस बात को सहज मे नहीं समझ पाते हैं, केवल भूलते ही जा रहे हैं। इसलिए श्रीकृष्ण बारबार कह रहे हैं कि सबका मार्ग एक नहीं है। अपने लाभ-हानि की ओर दृष्टि न रखकर कर्तव्य-बुद्धि से संसार के समस्त कार्यों का अनुष्ठान करो अथवा काम-काञ्चन को त्यागकर सन्यासी बनकर किसी विशेष उद्देश्य को लेकर जीवन बिताओ, दोनों मार्गों का फल एक ही होगा, क्योंकि दोनों मार्ग ही मनुष्य को त्याग की शिक्षा दे रहे हैं तथा सम्पूर्णतया आत्मत्याग ही धर्मलाभ का एकमात्र पथ है।

भोग-सुख के लिए अनुष्ठित सासारिक कर्मों के द्वारा भी मनुष्य को क्रमश त्याग की शिक्षा मिलती है। साख्यकार महामुनि कपिल कहते हैं कि पुरुष को स्वमहिमा अनुभव कराने के लिए ही प्रकृति का यह जगत्सृष्टिरूप विचित्र उद्यम है। भोग-सुख के द्वारा खुद की तृप्ति के साधन में अग्रसर होकर, धक्के पर धक्के खाकर मनुष्य अपने जीवन में प्रतिदिन किस प्रकार शनै. शनै अनित्य सुख के विषय में वीतराग हो उठता है एव त्याग करना सीखता है, विचारने

पर यह बात ध्रुव सत्य मालूम होती है। बच्चे को बहलाकर दवा पिलाने की तरह नाम, रूप, यश, प्रभुत्व या और कोई अनित्य पदार्थविशेष को अतिरञ्जित कर मनुष्य की दृष्टि के सम्मुख उपस्थित करती हुई उनमें ही सुख-शान्ति निहित है तथा उनको प्राप्त करना ही पुरुषार्थ है, यह समझाकर कितने सरल उपाय के द्वारा प्रकृति मनुष्य को धीरे धीरे अनित्य पदार्थसमूह की तुच्छता का अनुभव करा देती है।

मानो किसी ने सोचा कि मैं बड़ा आदमी बनूँगा। पहिले उसकी दृष्टि में बड़े आदमी बनने का तात्पर्य था धन का होना, दस व्यक्ति अपने वश में रहना इत्यादि। अनेक परिश्रम से वह धनी बना, बुद्धि भी कुछ मार्जित हुई, किन्तु धनी होने पर उसने देखा कि विद्वान् होना उससे भी बढ़कर है। इस प्रकार कुछ अग्रसर होकर उसने समझा कि ठीक बड़े बनने के लिए और भी कुछ त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि विद्यार्जन की आवश्यकता है, नहीं तो लोग उसके बड़प्पन को मानेंगे ही क्यों? इसलिए उसे विद्याभ्यास के लिए बन्धु-बान्धवों के साथ वृथा आमोद-प्रमोद तथा आपातरमणीय नाना प्रकार के सुखसम्भोग इत्यादि से स्वय ही अपने को अलग रखना पड़ा। इस प्रकार बड़े आदमी शब्द का अर्थ जितना ही वह समझने लगा, शनैः शनैः उतनी ही उसकी यह धारणा होने लगी कि त्याग स्वीकार किए बिना श्रेष्ट नहीं बना जा सकता। सभी विषयों में इसी प्रकार मनुष्य को यह ज्ञान होने लगता है कि त्याग स्वीकार किए बिना कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। शास्त्र का कथन है कि छोटे-मोटे विषयों में

क्रमशः इस प्रकार त्याग करना सीखकर अन्त में मनुष्य पूर्ण त्याग को अङ्गीकार कर अमृतत्व को प्राप्त होता है।

कर्म के द्वारा मनुष्य जितना ही अग्रसर होता है, उतना ही उसका मन उच्चतर महत्व के आदर्श को समझने तथा धारण करने में समर्थ होता जाता है। उसको प्राप्त करने के लिए अन्यान्य सामान्य विषयों का त्याग करना आवश्यक है यह देखकर वह उनको त्याग देता है। स्वामी विवेकानन्दजी का एक दृष्टान्त यहाँ सुन्दर रूप से प्रयुक्त होता है—हम सूर्य को यहाँ से एक थाली की तरह देख रहे हैं। हज़ार मील और आगे बढ़ जाओ, वही सूर्य कितना बड़ा दिखाई देगा। और भी हज़ार मील अग्रसर होने पर वह और भी बढा प्रतीत होने लगेगा। किन्तु यह ज्ञान बना रहेगा कि सूर्य वही है। वैसे ही आदर्श भी बढ़ते बढ़ते भगवान् में जा पहुँचेगा, किन्तु हमको मालूम यह होगा कि चिरकाल तक हम एक ही आदर्श को पकड़े हुए हैं। परम-हंसदेव कहा करते थे कि यदि मनुष्य किसी एक विषय को ठीक प्रकार से धारण कर सके, तो उससे ही वह अन्त में भगवान् के पूर्ण विकास को देख सकता है।

गीता का कथन है कि अवस्था-भेदानुसार योग तथा भोग, कर्म तथा संन्यास मनुष्य को सत्य तथा असत्य, ग्राह्य तथा त्याज्य प्रतीत होते हैं। अर्थात् कोई योग को ही ठीक समझता है और किसी के मन में भोग ही ठीक जँचने लगता है। देखा जाता है कि सबके कर्म समान नहीं होते हैं। साधारण मनुष्यों का कर्म स्वात्मसुख-विलास तथा स्त्री-पुत्र प्रतिपालन में ही सीमित है। जो उनसे कुछ आगे बढ़ गए हैं वे अपने देश की

बातें सोचते हैं। देश के लोग कैसे पेट भर खा सकेंगे, किस प्रकार से उनकी शिक्षा की उन्नति होगी, कैसे वे संसार की अन्य जातियों के समकक्ष बनेंगे, इन सब चिन्ताओं से वे व्याकुल रहते हैं; उनसे भी जो अधिक उन्नत हैं, वे यह सोचते हैं कि किस प्रकार से देश के लोग सत्य के पथ पर आरूढ़ रहेंगे, संयमी बनेंगे, दूसरों पर बिना कारण ही अन्याय-अत्याचार न कर उन्हें दया की दृष्टि से देखेंगे इत्यादि इत्यादि; क्योंकि वे समझते हैं कि इन सब दोषों के आ जाने पर जाति का पतन अनिवार्य है। और उनसे भी जो श्रेष्ठ हैं, उनका कर्म जगद्व्यापी है। सब काल, सब देश तथा सभी अवस्थाओं में रहनेवाले मानवों का यथार्थ कल्याण किस प्रकार से हो सकता है, इसी ध्यान में वे निमग्न रहते हैं, जैसे कि सब अवतार।

भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि सांख्य तथा योग पृथक् नहीं हैं, मूर्ख ही इनको पृथक् समझते हैं। हे अर्जुन, क्योंकि तुम अभी इतने उच्च अधिकारी नहीं बने हो कि पूर्णतया कर्मों का त्याग कर सको इसलिये तुम्हें कर्म के द्वारा ही अपने ध्येय को प्राप्त करना होगा। अपने लाभ-हानि की ओर दृष्टिपात न कर कर्तव्य कर्म के अनुष्ठान से जिसका चित्त पूर्णतया स्वार्थरहित बन चुका है, उसके लिए ध्यानादि के द्वारा समाधि-लाभ करने के अतिरिक्त साधारण मानवों की तरह अन्य कर्म करने की कुछ आवश्यकता नहीं है। केवल वही अपने मन को सम्पूर्णतया वशीभूत कर क्रमशः साधारण मानव-प्रकृति की सीमा का उल्लंघन करने में समर्थ होता है। अतः उसके लिए दूसरी व्यवस्था है, यह समझकर कर्म का अनुष्ठान करते रहो।

भगवान् श्रीकृष्ण के आविर्भाव से पहिले 'कर्म की चरम परिणति अकर्म या कर्मरहित अवस्था है' —शास्त्र के इस तात्पर्य को न समझने के फलस्वरूप एक विषमय फल का उद्भव हुआ था। जितने भंड, धूर्त एव अज्ञ थे, सभी अपने अपने कर्तव्य कर्मों को त्यागकर एकदम मनुष्यत्व की चरम कोटि पर पहुँचना चाहते थे। अमुक कर्मी है, यह बात कहने से लोग नाक-भौं सिकोड़ते थे या उसे दया की दृष्टि से देखकर समालोचना किया करते थे कि 'यह अभी नहीं समझ सका है, धीरे धीरे समझ जायेगा कि कर्मों को त्यागे बिना कुछ भी नहीं होगा' इत्यादि इत्यादि।

मनुष्य से इस प्रकार की भूल सब देशों में सदा ही होती रहती है। भगवान् श्री चैतन्यदेव ने ज्ञानमिश्रित भक्ति से ज्ञानशून्य भक्ति को श्रेष्ठ बतलाया है, फिर भी 'ज्ञानमिश्रित भक्ति ही ज्ञानशून्य या अहैतुकी भक्तिलाभ करने का एकमात्र उपाय है' उन्होंने इस बात को भी कहा है। उस बात को भूल जाने के फलस्वरूप आजकल के वैष्णव-बाबाजी लोगों की जो दुर्दशा है, वह प्रत्यक्ष है। सभी एकदम ज्ञानशून्य भक्तिलाभ करने के लिए सचेष्ट हैं। ज्ञानमिश्रित भक्ति का जो अनुष्ठान करता है, वह मानो उनकी दृष्टि में बड़ा ही कुकर्म कर रहा है। सभी एकदम महापुरुष बनना चाहते हैं। श्रेष्ठ पद को पाने के लिए कितना पसीना बहाना पड़ता है, कितना स्वार्थ-त्याग तथा उद्यम करना पड़ता है! —किन्तु इन सबके लिये कोई भी तैयार नहीं है। एक कहानी याद आती है—किसी व्यक्ति ने एक संन्यासी के मठ में जाकर किसी साधु से कहा, "महाराज, मुझे चेला बना

लीजिए।" मठ के लोगों ने पूछा, "तुम बन सकोगे? चेला बनना बहुत कठिन है। मठ के ठाकुरजी की रसोई बनानी होगी, हण्डा मलना पड़ेगा, जल लाना होगा, साधुओं का आदेश पालन करना पड़ेगा, गुरुजी के बतलाए हुए पाठ याद करने होंगे, उनकी सब बातें माननी होंगी तथा रात्रि में उनकी चरणसेवा करनी पड़ेगी।" उसने देखा कि बड़ी मुसीबत है, सोच-विचारकर पूछा, "अच्छा, जो गुरु बनेंगे, उनको क्या करना होगा?" वे बोले "गुरु? वे जप-ध्यान-पूजादि करेंगे, चेलाओं को शिक्षा देंगे तथा उनके द्वारा कार्य करायेंगे।" तब उसने कहा, "फिर तो महाराज! मुझको एकदम गुरु ही बना लीजिए।" हमारे देश में अब तो यही भाव अत्यन्त अधिक है। भक्तश्रेष्ठ तुलसीदासजी की इस उक्ति को श्रीरामकृष्णदेव प्रायः हमको सुनाते थे—"गुरु मिले लाख लाख चेला न मिले एक।" यह भाव गृहस्थों में अधिक है और संन्यासियों में कम, यह बात नहीं। लोग समझते हैं कि सन्यासी बनकर गेरुआ वस्त्र पहिनने से ही कर्म से मुक्ति मिल जाती है, एकदम ज्ञानी बन जाते हैं। बात ऐसी नहीं है। गीताकार कहते हैं—

'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥'

सर्वदा आत्मा का साक्षात्कार होने के कारण कर्मानुष्ठान में जिनको सदा सब अवस्थाओं में यह ज्ञान ठीक ठीक बना रहता है कि मैं कुछ भी नहीं करता, मैं आत्मा हूँ, तथा जो यह भी देखते हैं कि आत्म-साक्षात्कार के बिना ज्ञानी का स्वाँग रचकर आलसी बने बैठे रहने

पर विषय-चिन्तारूप सभी कर्मों का अनुष्ठान हो रहा है, मनुष्यों में वे ही बुद्धिमान हैं, वे ही योगी हैं तथा वे ही समस्त कर्मों को जिस प्रकार से करना चाहिए, ठीक उसी प्रकार से कर सकते हैं। उनके अन्दर ही गीताकार की तरह अनवच्छिन्न कर्म-उद्यम में योगी की अविराम शान्ति देखने में आती है। जो वास्तविक ज्ञानी तथा वास्तविक भक्त हैं, उनकी यही दशा होती है। कर्मानुष्ठान के समय भी वे अपने को पृथक् देखते हैं। वे मानो सुपक्व नारियल हैं, जिसके भीतर छिलके से गूदा अलग हो गया है, हिलाने पर खट-खट आवाज़ होती है, और हम मानो अपक्व नारियल हैं — छिलके के साथ लिपटे हुए गूदे की तरह हैं। छिलके पर चोट देने से गूदे पर जाकर पड़ती है। कर्मयोग के निरन्तर अनुष्ठान से मनुष्य परिपक्व हो जाता है। सुपक्व नारियल की तरह उसके भीतर गूदा और छिलका अलग अलग हो जाते हैं। मन, बुद्धि, अहङ्कार, इन्द्रिय तथा शरीर इत्यादि से पृथक् होकर उसकी आत्मा स्वयं अपने में ही अवस्थित रह सकती है।

इन सब बाह्य वस्तुओं को छोड़कर उसकी आत्मा अलग होकर रह सकती है। जाग्रत अवस्था में तो कोई बात ही नहीं, निद्रित दशा में भी वह अपने शरीर को इस प्रकार देखती है कि मानो किसी दूसरे का शरीर है, मानो कोई दूसरा ही सो रहा है। बंगाल के साधकप्रवर श्रीरामप्रसाद ने गाया है—

> "घुम भेंगेछे आर कि घुमोई, योगे यागे जेगे आछि।
> एखन, जार घुम तारे दिए, घुमेरे घुम पाड़ाएछि॥"

तात्पर्य यह है कि नींद खुल चुकी है, क्या अब मैं सो सकता हूँ,

योग-याग के अनुष्ठान के द्वारा मैं जगा हुआ हूँ। जिसकी नींद है, उसको उसे देकर अब मैं नींद को भुला चुका हूँ।

उसकी दशा भी तब ठीक उसी प्रकार हो जाती है एवं उस गीत के तात्पर्य की भी वही ठीक ठीक उपलब्धि करता है। कर्म के अनुष्ठान में मनुष्य जितना ही निःस्वार्थ भाव का अवलम्बन करता है, उतना ही शरीरेन्द्रियादि से उसकी अहं-बुद्धि दूर होकर आत्मा में पर्यवसित होती है तथा वह उपरोक्त दशा को प्राप्त होता है।

संक्षेप में यहाँ और एक बात कही जा सकती है। हिन्दूशास्त्र में सर्वत्र इस विषय को समझाने की विशेष चेष्टा देखने में आती है कि मुक्ति कर्म के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। वह 'कर्म-साध्य' नहीं है। गीताकार ने भी इस बात को वैसे ही समझाने की चेष्टा की है, यह देखा जाता है। इसका क्या तात्पर्य है? इस बात के अर्थ को ठीक ठीक समझना आवश्यक है, न समझने से विशेष हानि है, क्योंकि इससे कर्म का स्वर नीचा प्रतीत होने लगेगा। साथ ही ऐसा मालूम होगा कि मुक्ति के साथ उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, अतः कर्म करने की प्रवृत्ति भी नहीं रहेगी, कर्म में निष्ठा शिथिल हो जायेगी। तो फिर ये सब विचार शास्त्र में क्यों किए गए हैं? — यह समझाने के लिए कि कर्म से आत्मा के स्वरूप या स्वभाव का किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता है, आत्मा क्षय-वृद्धिरहित, उत्पत्तिविनाशशून्य, नित्यानन्दस्वभाव है। शरीर, मन, इन्द्रिय आदि को कर्म बदल देता है। जिन सब यंत्रों के भीतर से हम आत्मा तथा जगत् को देख रहे हैं, कर्म उनको माँज-घीसकर

साफ कर देता है। फलस्वरूप मन-बुद्धि के दर्पण में जो वस्तु अब तक अस्पष्ट दिखाई देती थी, कुहरे के धुंधलेपन में छोटी वस्तुएँ अब तक जो बड़ी प्रतीत होती थीं अथवा जिस वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं मालूम होता था—ये सब भ्रान्तियाँ दूर होकर वस्तु का स्पष्ट दर्शन होने लगता है। अतः उनके मतानुसार कर्म का फल चित्तशुद्धि है। किन्तु यह बात नहीं कि आत्मा जो अब तक छोटी बनी हुई थी, कर्म के द्वारा क्रमशः बढने लगी एव अन्त में इतनी बढ़ गई कि उसके सारे बन्धन चटपट टूट गये; क्योंकि इससे यह प्रमाणित होता है कि यदि एक प्रकार के कर्म के द्वारा आत्मा की वृद्धि हो सकती हो तो दूसरे प्रकार के कर्म के द्वारा वह छोटा भी हो सकता है—यहाँ तक कि अन्त में वह बिल्कुल लुप्त भी हो सकता है। इसलिए वे कहते हैं कि आत्मा की मुक्ति यदि कर्म-साध्य मानी जाय तो फिर उसका अन्त भी होना चाहिए, क्योंकि कर्म के द्वारा जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसकी आदि, वृद्धि तथा अवसान भी मानना पड़ता है। अत वे कहते हैं कि मुक्ति आत्मा में सर्वदा विद्यमान है, वही उसका यथार्थ स्वभाव है, उसको भूलकर ही शरीर, मन इत्यादि को मनुष्य अपना स्वरूप समझ रहा है तथा उसी के फलस्वरूप अपने में सुख-दु ख का अनुभव कर रहा है।

यदि यह पूछा जाय कि उससे ऐसी भूल क्यों हुई, तो इसके उत्तर में वे कहते हैं कि अरे भाई, यह विषय समझने या समझाने की बात नहीं है—यह तो भूल दूर होने पर ही समझा या समझाया जा सकता है। तुम्हारी मन-बुद्धि की गति तो उस भूल के ही घेरे में है; इसलिये

उस मूल के कारण को मन-बुद्धि जान ही कैसे सकते हैं ? किन्तु यदि यह पूछो कि किस प्रकार से ऐसी भूल हुई, तो वे कहते हैं, 'अज्ञानेनावृत ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इसीलिए यह कष्ट है। फिर यदि यह पूछो कि तब उपाय क्या है ?— तो वे कहते हैं कि हाँ, हमने इसका एक उपाय तो सोचा है। सुख-दुःख तथा लाभ-हानि की ओर दृष्टिपात न करके सत्कार्यों का अनुष्ठान करते रहो। उसी के द्वारा इस अज्ञान की जड़ अहंकार नष्ट हो जायेगा; साथ ही 'तत्स्वयं योगससिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।' इस प्रकार से कर्म करते करते पूर्ण रूप से निष्काम बन जाने पर यथार्थ ज्ञान अपने आप ही आकर उपस्थित होगा। तभी भ्रम दूर हो जायेगा। शरीर-मन तब फिर कार्य नहीं करेंगे, यह बात नहीं, किन्तु ईश्वरेच्छा से पहिले की अपेक्षा और भी अच्छी तरह से करेंगे। तब समझोगे कि कब कर्म करने का प्रयोजन है और कब चुपचाप बैठे रहना आवश्यक है। साथ ही यह भी समझोगे कि कर्म क्या है तथा कर्म से विरत होकर यथार्थतः चुप रहना किसे कहते हैं। तभी कर्म करने या न करने की दोनों शक्तियाँ मनुष्य को प्राप्त हो सकेंगी। साधारण मनुष्य में यह क्षमता नहीं है। वह केवल कार्य करना ही जानता है, एक क्षण भी कार्य न करके चुप नहीं रह सकता। कार्य मानो भूत की तरह उसके सिर पर सवार है और उसको हिला-डुला रहा है। इस प्रकार से कर्माधीन होकर वह इतना लिप्त हो जाता है कि विश्राम या मुक्ति की भावना उसकी दृष्टि से अदृश्य हो जाती है। मरने की भी उसे फुरसत नहीं मिलती। यही विपत्ति है। यदि कहो कि क्यों? कार्य न करते हुए क्या

हम कभी कभी स्थिर होकर बैठे नहीं रहते हैं? या रात्रि में सोते नहीं हैं? उस समय किस कार्य को करते हुए हम घूमते रहते हैं? गीताकार कहते हैं कि हाँ, घूमते नहीं रहते हो यह सत्य है, किन्तु इसलिए क्या कार्य करना एकदम बन्द कर देते हो? चिन्ता, विचार या स्वप्न, ये भी तो कर्म हैं। साथ ही श्वास-प्रश्वास लेना, हृदयस्पन्दन, रक्तसञ्चालन इत्यादि कार्य तो होते ही रहते हैं। तब फिर कार्य से एकदम विरत कैसे हुए? अरे भाई, तुम्हारी ये बातें किसी काम की नहीं हैं। तुम तो कर्म के दास हो — एकदम पराधीन हो। भूल से यह समझ रहे हो कि मैं स्वाधीन हूँ, मैं चाहूँ तो कार्य कर सकता हूँ, नहीं भी कर सकता हूँ। विराम किसे कहते हैं, यह कुछ भी नहीं समझते हो एव थोड़ा-बहुत समझने पर भी उसे कार्य में परिणत करने की तुम्हारी क्षमता नहीं है। यदि विराम शब्द का यथार्थ अर्थ समझना चाहते हो, तो आज से अपने लाभ-हानि की ओर दृष्टिपात न कर इस भावना से कर्म करते रहो कि केवल कर्तव्यबुद्धि से प्रेरित होकर ही तुम कर्म कर रहे हो। तभी समय आने पर यह समझ सकोगे कि इस प्रकार के कर्मानुष्ठान का नाम ही 'कर्मयोग' है। जिन कर्मों के निरन्तर अनुष्ठान से मनुष्य नाना प्रकार के बन्धन में फँस जाते हैं, उन्हीं का इस प्रकार से अनुष्ठान करना चाहिए कि जो कुछ सुन रहे हो, जो कुछ कह रहे हो, जो कुछ कर रहे हो, ये सब कर्म तुमको फिर बन्धन में न फँसाकर कर्म की दासता से मुक्त कर दें।

कर्मयोग क्या है?—कर्म करने की कुशलता। 'योगः कर्मसु कौशलम्' — इस प्रकार की कुशलता से कर्म किया जा सकता है कि

कर्म के अनुष्ठान से फिर बन्धन में न फँसना पड़े, जिससे अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रता के साथ हम कार्यों को कर सकें। इस प्रकार कर्म कैसे किया जा सकता है?——अपने लाभ की ओर दृष्टि न रखने पर। जहाँ कहीं भी स्वार्थ है, वहीं फल की आशा है और वहीं आसक्ति आकर उपस्थित होती है। तुम कर्म करो किन्तु यह ख्याल रखो कि कर्म कहीं तुम्हारे ऊपर सवार न होने पाये। अन्यथा कर्म तो तुमको करना ही पड़ेगा। पिता-माता की सेवा करनी होगी, यदि विवाहित हो तो स्त्री-पुत्रों का पालन-पोषण भी करना पड़ेगा। जिस समाज में रहते हो, उसके प्रति भी कर्तव्य है। जिस देश में तुम्हारा जन्म हुआ हो, उसके प्रति भी कर्तव्य है, समग्र मनुष्य जाति के प्रति भी कर्तव्य है। शास्त्र का कहना है कि देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण को लेकर मनुष्य पृथिवी में जन्म लेता है।

कर्म तो करना ही पड़ेगा। ऐसी दशा में परमहंसदेव जैसा कहा करते थे, उसी प्रकार से कर्मों का अनुष्ठान करो। ऐसा समझो कि तुम मानो किसी धनी परिवार के घर की दासी हो। वह काम-काज करती है, बच्चों को खिलाती-पिलाती है, उनके सुख में सुखी तथा दुःख में दुखी होती है, किन्तु उसे यह ख्याल है कि मैं इनकी कोई भी नहीं हूँ। मालिक जिस दिन चाहेगा, उसी दिन भगा देगा। तुम भी संसार में इस प्रकार से रहो।

अर्जुन जब तक राज्य-भोग, युद्ध-विग्रह इत्यादि अपने जीवन के समस्त कार्यों को इसी भावना से प्रेरित होकर करते रहे, तब तक उनकी बुद्धि स्वच्छ थी। प्रीतिजनित मोह में फँसकर उनकी बुद्धि

विशृंखल नहीं हो पाई थी। क्षत्रिय-जीवन का महान् लक्ष्य — सत्यनिष्ठा, अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध दण्ड-विधान कर न्याय-विचार की स्थापना, अपने हृदय में धर्म के उन्नत भावों को पोषण कर दूसरों को भी उसमें प्रवृत्त कराना, शरणागतों को शरणदान, दुर्बल शत्रु के प्रति क्षमा एवं दयाभाव, अपने आत्मीय कुटुम्ब या प्रीतिपात्र के द्वारा अन्याय अधर्म आचरण किए जाने पर उसके विरुद्ध भी खड़ा होना — इत्यादि का अवलम्बन कर इतने दिनों तक वे कर्म कर रहे थे। उन्होंने सोचा था कि यह तो अत्यन्त सरल है। इसी तरह चिरकाल तक वे कर्म करते रहेंगे। किन्तु माया का प्रताप भीषण है। अकस्मात् एक दिन कुरुक्षेत्र के भयकर हत्याभिनय का आयोजन हुआ तथा जीवन की परिवर्तनसकुल परीक्षा का दिन सामने आकर उपस्थित हुआ। उन्होंने देखा कि घटना-प्रवाह से स्वय वे एक ओर ऐसे लिप्त हो गये हैं कि निकलने का उपाय नहीं है। धर्म, सत्य, न्याय, विचार ये सब उनके ही पक्ष में हैं। अमितप्रज्ञ धर्मबन्धु भगवान् श्रीकृष्ण उनके पक्ष में हैं। नहीं है केवल वे, जिनकी जीवन की कैशोरावस्था से वे श्रद्धा-भक्ति करते आए हैं, जिनसे प्रेम करते आये हैं, अपने हृदय के कोमल भावों को जिनको प्रदान करते आए हैं। नहीं हैं केवल वे, जिनसे मनुष्य कभी स्वप्न में भी ऐसा अत्याचार, अविचार, अधर्म तथा नृशंसता की आशा नहीं कर सकता। और वे केवल उनके पक्ष में नहीं हैं, इतना ही नहीं, वरन् उनके विपक्ष में खडे हुए हैं। इतने स्पृहणीय क्षत्रिय-धर्म की, अपने जीवन के उच्च आदर्श की यदि रक्षा करनी हो तो उन लोगों की हत्या के सिवा कोई दूसरा उपाय

नहीं है। उन्होंने देखा कि उन लोगों के हृदय की उष्ण शोणित-धारा से तर्पण किए बिना धर्मनिष्ठा-देवी प्रसन्न नहीं हो रही है। अर्जुन का वीर हृदय उस दृश्य को अविचलित रूप से देखने में समर्थ न हुआ। अत्यन्त वेग से गतिमान होकर सहस्र विपरीत भावों की प्रबल तरङ्गों ने एक साथ उनके हृदय को आवर्तमय कर डाला। प्रीति में मोह का आविर्भाव हुआ। मोह ने धर्म-भाव के उन्नत स्मृति-स्तम्भ को डुबो दिया। अतः पथ-निर्णय में समर्थ न होकर आवर्त में नाव को चलाती हुई बुद्धि असहाय हो उठी। तब स्वार्थ आकर उपस्थित हुआ। मान-अपमान की चिन्ता, जय-पराजय की भीति एवं शंकाएँ एक के बाद एक उपस्थित होकर कहने लगीं, "भागो, भागो, यह धर्म नहीं है, यह तो तुम अधर्म करने के लिए खड़े हुए हो, किनसे लड़ने के लिए कमर बाँधी है? इनके साथ युद्ध करने में तुम समर्थ ही कैसे हो सकते हो? वह देखो इच्छामृत्यु भीष्म, वह देखो गुरु द्रोण, वह देखो विचित्र कवचकुण्डलधारी एकघाती अस्त्रसहाय कर्ण, वह देखो अमर कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा, वह देखो पितृवरदर्पी सिन्धुराज जयद्रथ—इनसे युद्ध कर सकते हो? थोड़ी सी जमीन के लिए इतने बड़े विश्वव्यापी नाम को क्या खो देना चाहते हो? भागो, भागो, भीख माँगकर खाना भी इससे अच्छा है। और यदि जीतो, तो भी इनको मारकर, उस राज्यभोग से तुम्हें क्या सुख मिलेगा?" अर्जुन इस बात को भूल गए कि धर्म के लिए, सत्यविचार के लिए वे लड़ने को खड़े हुए हैं। जीवन में ऐसी परिस्थिति उपस्थित होने पर मनुष्य की सदा यही दशा हो जाया करती है। उद्देश्य को

भूलकर वह स्वार्थ में लिप्त हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इस विषय को अच्छी तरह से समझाया है,—

"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधात्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥"

रूप-रसादि विषयों के निरन्तर चिन्तन के फलस्वरूप कोई वस्तु मनुष्य के मन में पहिले अच्छी प्रतीत होने लगती है तथा मन उस ओर आकृष्ट हो जाता है, झुक जाता है। तत्काल ही काम का उदय अर्थात् यह वस्तु मुझे मिले, इस प्रकार की इच्छा का उदय होकर मनुष्य उसको पकड़ने के लिए अग्रसर होता है। उसमें बाधा उपस्थित होने पर असन्तुष्टि होती है, जिसका परिणाम क्रोध है। उसके वशीभूत होकर वह उस बाधा को दूर करने का प्रयास करता है। उसके परिणामस्वरूप मोह आकर उपस्थित होता है। मोह होने पर 'मैं सत्य-पथ पर चलूँगा, धर्म-मार्ग में रहूँगा' इत्यादि महान् उद्देश्यों को मनुष्य भूल बैठता है। इसीका नाम स्मृति का लोप होना है। तब न्याय से हो या अन्याय से, उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए मनुष्य दौड़ने लगता है। गुरु के उपदेश इत्यादि को, जिनसे कि वह इतने दिन तक कुकर्म, पापकर्मों से विरत रहा था, वह भूल जाता है। फलतः बुद्धि विशृङ्खल हो जाती है तथा पापकर्मों का अनुष्ठान कर सभी प्रकार से उसे दुःख भोगना पड़ता है।

कोई मानो देश का उपकार करने के लिए अर्थ उपार्जन करना

चाहता है। पहिले तो यह भाव यथार्थ में प्रबल रहता है। किन्तु धनप्राप्ति होने पर धन के प्रति आसक्ति होने लगती है तथा अर्थ-लालसा से क्रमशः उद्देश्य को भूलकर अपने सुखविलास या काञ्चन को ही वह अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है। इसलिए उद्देश्य को ठीक बनाए रखना चाहिए, फल की ओर ध्यान न देना चाहिए, यही कर्मयोग है। कर्मयोगी कौन बन सकता है? जो अपने को वश में ला सका है तथा जिसने अपनी इन्द्रियों को दमन कर लिया है, जिसके जीवन का महान् लक्ष्य अविचलित है, कर्म से चालित न होकर जो स्वय कर्म को चलाता है, वही कर्मयोगी बन सकता है। लक्ष्य की प्राप्ति होने पर वह समझ लेता है कि उसका कार्य समाप्त हो चुका, एवं तब वह कर्म से विदा ले लेता है।

इसीलिए गीता की यह शिक्षा है कि कर्म करो। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेयस्कर है। किन्तु कर्म करने में अग्रसर होकर फलाकाक्षी न बनो। फल-कामना के उदय होने से ही बन्धन में फँसना पड़ेगा। देखने में आता है कि संसार में जिन लोगों ने कोई महान् कार्य किया है, वे सभी संयमी पुरुष थे और उनका लक्ष्य अटल था। छात्र-जीवन में कौन महान् बनते हैं?—जो नाना प्रकार के आमोद-प्रमोद में मत्त न होकर लक्ष्य को ठीक बनाए रखते हैं। संसार में कौन महान् होते हैं? धर्म में कौन महापुरुष बनते हैं?—जो अपने लक्ष्य पर अविचलित रहते हैं। लक्ष्य खोते ही पतन अनिवार्य है एव तुमसे तब फिर कोई भी महान् कार्य नहीं हो सकता; क्योंकि तब तुम्हारी बुद्धि विशृङ्खल हो जायेगी, फिर तुम यह निर्णय नहीं कर

पाओगे कि क्या करना उचित है और क्या अनुचित। फलतः कुछ निरर्थक कार्यों में भाग-दौडकर मरना ही हाथ लगेगा।

प्रश्न हो सकता है कि एकदम फल-कामना यदि मन से निकल जाय, तो फिर काम कैसे किया जा सकेगा ? किसी लक्ष्यविशेष की कामना किए बिना क्या कोई काम किया जा सकता है ? ठीक है; लक्ष्य के बिना कोई भी काम नहीं हो सकता। किन्तु उस लक्ष्य की ओर अग्रसर होते समय हम अपने लाभ-हानि का हिसाब क्यों करने लगे ? हम केवल अपने लाभ-नुकसान का ही हिसाब करना चाहते हैं। उस हिसाब को पहिले लगाकर फिर हम कार्य में संलग्न होते हैं। विद्याभ्यास करते हैं अर्थोपार्जन कर सकेंगे तथा ख्याति होगी इसलिए, न कि ज्ञान के लिए। स्त्री-पुत्रादिकों से प्रेम करते हैं अपने को सुख मिलता है इसलिए, न कि उनके लिए। इस प्रकार गहराई से विचारने पर पता चलता है कि हमारे सभी कार्यों का लक्ष्य स्वार्थ की सेवा अर्थात् षोडशोपचार से अपने अहंकार की पूजा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हमारी वाणी में कुछ और है तथा मन में कुछ और। इस प्रकार की वंचना को दूर किए बिना हमसे कोई भी महान् कार्य नहीं हो सकता, सत्य का कोई भी पथ हमारे दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसीलिए गीताकार अर्जुन को सामने रखकर सभी से यह कह रहे हैं कि फल की कामना ही सर्व-नाश का मूल है। फल-कामना से ही तुम अज्ञान में लिप्त हुए हो, कर्तव्यपालन में असमर्थ हो। आँख पर पट्टी बँधी हुई है, सत्य के सामने रहने पर भी उसे देख नहीं पा रहे हो। फल की कामना छोड़

दो। फल की ओर दृष्टि न रखने पर ही अज्ञान और अधर्म की मूलस्वरूप स्वार्थपरता के हाथ से मुक्त हो जाओगे। तब यह समझोगे कि यथार्थ सुख किसे कहते हैं, तभी यह अनुभव होगा कि वास्तविक प्रेम क्या वस्तु है। फल की ओर दृष्टि न देने पर ही तुम योगी, ज्ञानी तथा भक्त बनोगे। तुम्हारे सारे दुःख दूर हो जायेंगे।

शास्त्र का अध्ययन करो या प्रवचन सुनो, पर शास्त्र की बातों को यदि जीवन में कार्यान्वित न कर सको, शास्त्र यदि जीवन में पर्यवसित न हो सके तथा जीवन की प्रत्येक घटना में शास्त्र यदि सहायक न बने, तो वह अध्ययन तथा श्रवण व्यर्थ है। उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। चाहे छात्रजीवन हो या सांसारिक भोग अथवा संन्यासजनित त्याग, सभी अवस्थाओं में इसका अनुष्ठान पहिले सीखना चाहिए। फिर मनुष्य चाहे जहाँ या जिस अवस्था में क्यों न रहे, शास्त्र-ज्ञान उसके जीवन के महान् लक्ष्य को उसके सम्मुख उपस्थित कर वहीं से उसे उन्नत बना देगा।

स्वामी विवेकानन्दजी यह कहा करते थे कि आजकल हमारे देश में शास्त्र के मर्म को कोई नहीं समझता है, केवल ब्रह्म, माया, प्रकृति इत्यादि कुछ शब्दों को सीखकर मनुष्य अपने मस्तिष्क को विशृङ्खल कर डालता है। शास्त्र के मूल उद्देश्य को त्यागकर केवल शब्दों को लेकर झगड़ता रहता है। शास्त्र यदि मनुष्य की हर समय हर अवस्था में सहायता न कर सकें, तो उस शास्त्र की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। शास्त्र यदि संन्यासी का पथ प्रदर्शन करे और गृही को मार्ग न बतला सके, तो उस एकाङ्गी शास्त्र से गृहस्थ का क्या प्रयोजन

है? अथवा अन्य सब काम-काजों को छोड़कर वन में जाने पर ही यदि शास्त्र मनुष्य की सहायता करे, किन्तु संसार के कोलाहल में, दिन-रात के परिश्रम में, रोग-शोक-दैन्य में, अनुतप्त की निराशा में, अत्याचार-पीड़ित के धिक्कार में, रणक्षेत्र की विकरालता में, काम में, क्रोध में, आनन्द में, विजय के उल्लास में, पराजय के अन्धकार में तथा अन्त में मृत्यु की कालरात्रि में मनुष्य के हृदय में आशा का आलोक फैलाकर पथ-प्रदर्शन न कर सके, तो दुर्बल मनुष्यों को ऐसे शास्त्र से कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

मान लो, छात्रजीवन में ज्ञानलाभ के लिए अथवा और किसी सदुद्देश्य से मुझे विलायत जाना है। शास्त्र यदि मेरी उस समय उस विषय में सहायता न कर सके, तब मेरी क्या दशा होगी? किन्तु गहराई से विचारने पर पता चलता है कि हमारे शास्त्रों का कोई दोष नहीं है, दोष हममें हैं। शास्त्रोपदेश को किस प्रकार से जीवन की प्रत्येक घटना में कार्यान्वित किया जाता है तथा किया जा सकता है, यह हम एकदम भूल गए हैं और भूलकर यह समझ रहे हैं कि वास्तव में यदि धर्मानुष्ठान करना हो तो वन में जाना पड़ेगा। किन्तु गीताकार का अभिप्राय कुछ और ही है। वे एक ओर अर्जुन से कह रहे हैं कि न्यायविचार के लिए संग्राम न करने पर उन्हे किसी भी प्रकार से धर्मलाभ न होगा और फिर उद्धवादि अन्य स्वभाव के लोगों से यह कह रहे हैं कि तुमको सब कुछ त्यागकर पर्वतसङ्कुल बदरिकाश्रम में जाकर एकाग्र चित्त से ध्यान-जपादि का अनुष्ठान करना होगा। इसके बिना तुमको धर्मलाभ न होगा। अत. तुम जहाँ कहीं भी रहो, कर्म-

फल को त्यागकर यदि निःस्वार्थ होकर कर्मानुष्ठान कर सको, तो वहीं से तुम्हारी मुक्ति होगी — शास्त्र का यही मर्म है।

पूर्णतया निःस्वार्थभाव से मनुष्य कर्म कर सकता है, इस बात को परमहंसदेव तथा स्वामी विवेकानन्दजी ने हमारी दृष्टि के सामने अपने अपने जीवन के द्वारा प्रमाणित कर दिखाया है। हमारी तरह शास्त्र के वाक्यांश को लेकर उन्होंने खींचातानी नहीं की। हमारे जीवन के साथ शास्त्रोपदेश का ऐक्य होना चाहिए, तभी शास्त्र के उद्देश्य को ठीक ठीक समझा जा सकता है — अपने आचरण के द्वारा उन्होंने इस बात को प्रमाणित किया है। कैसे शास्त्रज्ञान को जीवन में कार्यान्वित करना पड़ता है, वे इसका पाठ पढ़ा गए हैं। हम लोगों को यत्नपूर्वक उसे सीखना चाहिए। तुम्हारी समिति का भी यही उद्देश्य है, इसे कभी न भूलना। देश, काल तथा पात्र के भेद से धर्म का प्रकाश विभिन्न रूप से होगा, स्वयं इसको अच्छी तरह से समझकर अपने जीवन के द्वारा जगत् के समक्ष तुम्हें इसे दिखाना होगा, इस बात को न भूलना। शास्त्र के उपदेशों को वर्तमान समय में भी जीवन में परिणत किया जा सकता है एव इस कार्य में सफलता मिलने पर मनुष्य चाहे किसी भी अवस्था में क्यों न रहे उसके लिए विशेष सहायता मिलती है, जीवन-संग्राम में विशेष शक्ति मिलती है — स्मरण रहे, तुमको यह भी दिखाना होगा। शास्त्र यदि दोषयुक्त होता अथवा यदि वर्तमान काल के अनुपयोगी, अतीत के परिवर्तनरहित अरुचिकर उपदेशों से वह भरा रहता, तो कभी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव तथा धर्मवीर विवेकानन्दजी के जीवनगठन में वह सहायक नहीं बन सकता, इस बात

को अच्छी तरह से समझो, शास्त्र को व्यर्थ में दोष न दो। दोष दो अपने नेत्रों को, क्योंकि शास्त्र के यथार्थ अर्थ तथा वास्तविक उद्देश्य को देखने की शक्ति उनमें नहीं है। दोष दो अपनी शिक्षा को, जिसमें लोगों को यह भी नहीं सिखाया जाता कि किस प्रकार से आँख, कान, नाक तथा मुख का व्यवहार करना चाहिए।

हममें से कितने लोग इन्द्रियों का परिचालन करना जानते हैं? इन्द्रियों को क्रमशः सूक्ष्म वस्तु धारण करने की शिक्षा प्रदान करने पर तभी तो वे उनको ग्रहण कर सकेंगी। आजकल हमारी शिक्षा का उद्देश्य यही है कि किस प्रकार से हम अच्छे क्लर्क बन सकते हैं। प्राचीन तथा नवीन भावधाराओं के अनुसार चिन्ता करने की, सूक्ष्म विषयों की धारणा करने की, मस्तिष्क तथा इन्द्रिय-परिचालन करने की शिक्षा देना तो दूर रहा, चिन्तन-शक्ति तक को भी अपहरण कर आजकल की शिक्षा ने छात्रों को एकदम पंगु तथा जड़ बना डाला है। इन्द्रियसमूह सबल तथा कर्मठ होने पर ही तो सब विषयों की उपलब्धि हो सकती है और तभी ज्ञान का विकास हो सकता है। जिन सूक्ष्म विषयों को योगियों ने दीर्घकालव्यापी साधना के फलस्वरूप अपने शिक्षित, सतेज तथा वशीभूत इन्द्रिय-मन के द्वारा अनुभव किया है, हम चाहते हैं कि अपने अशिक्षित, अक्षम तथा निस्तेज शरीरेन्द्रियों के द्वारा एक दिन में ही उन्हें अनुभव कर लें, क्या यह पागलपन नहीं है? पहिले इन्द्रियसमूह को सतेज बनाओ, शिक्षा की सहायता से उन्हें वशीभूत करो, दीर्घ काल तक अभ्यास करो, श्रद्धा के साथ चेष्टा करो

तब तो समर्थ हो सकोगे। इसका अनुष्ठान तो करना नहीं चाहते हो, साथ ही यह भी कहते हो कि हमारा शास्त्र तो मिथ्या तथा असंगत बातों से भरा पड़ा है, हिन्दू धर्म तो बेकार है। इससे बढ़कर मूर्खता और क्या हो सकती है? बचपन में मैंने एक कहानी पढ़ी थी। कहानी का नाम था—आँख के रहने और न रहने में कितना प्रभेद है। कहानी इस प्रकार की है—दो व्यक्ति एक दिन किसी मैदान में टहलने गए। एक व्यक्ति दिन भर घूमता-फिरता रहा तथा कुछ विशेष दृष्टिगोचर न होने के कारण असन्तुष्ट होकर वह लौट आया। दूसरा, उसका साथी कितनी ही नवीन जड़ी-बूटियों का संग्रह कर उस जमीन के उपजाऊपन की जाँच कर विभिन्न प्रकार के पत्थरों के टुकड़ों से अपनी जेब को भरकर अत्यन्त आनन्द के साथ लौटा। दोनों एक ही मैदान में टहलने गए थे। किन्तु दूसरा व्यक्ति आँखों से काम लेना जानता था, यही प्रभेद है। स्वामी विवेकानन्दजी के साथ जिन लोगों ने भ्रमण किया है, वे जानते हैं कि उनकी दृष्टि तथा धारणा कैसी असाधारण थी। कितनी ही बार हम देख चुके हैं कि एक ही देश में होकर, एक ही स्थान में रहकर, एक साथ भ्रमण करके हम लौटे हैं। उन्होंने आकर उस देश के निवासियों के आचार-व्यवहार तथा इतिहासादि के विषय में कितनी ही बातों की आलोचना की। उसे सुनकर हम आश्चर्य के साथ सोचने लगे कि कब इन्होंने यह सब देखा तथा कब इतनी बातें सुनीं।

शास्त्र का कथन है कि दृढ़ शरीर, सतेज इन्द्रियसमूह तथा धारणासमर्थ मन वाला पुरुष ही वैदिक ज्ञान का अधिकारी हो सकता

है। ऐसे पुरुष अब कहाँ हैं? अदृष्ट की दुहाई देकर देश के लोग जो चुपचाप पड़े रहते हैं क्या तुम यह समझते हो कि इन लोगों की इस प्रकार की भावना ईश्वर-विश्वास या धर्म-विश्वास का फल है? यह बात नहीं है। दुर्बलता तथा तमोगुण ही इसका प्रधान कारण है। अदृष्ट या दैव की सहायता के बिना मनुष्य की कार्यसिद्धि नहीं होती है, यह ठीक है, किन्तु गीताकार का कहना है कि कार्यसिद्धि होने के पाँच कारणों में से दैव एक कारणमात्र है। जैसे दैव की सहायता के बिना कोई कार्य सफल नहीं होना, वैसे ही उसके साथ ही साथ ये भी आवश्यक हैं, "अधिष्ठान तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टा:।" उपयुक्त देश-काल, उत्साही कार्यकर्ता, सतेज तथा शिक्षित इन्द्रियसमूह एवं उनकी सहायता से पुनः पुन. नवीन उपायों के द्वारा कर्ता का सक्रिय प्रयास। शास्त्र ने कहा है कि दैव की सहायता के बिना कोई कार्य नहीं होता है। इसको तो दृढ़ता के साथ हम पकड़े हुए बैठे हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त शास्त्र जो यह कह रहा है कि सबल बनो, आलस्य का परित्याग करो, अविश्रान्त रूप से प्रयत्न करो, कर्मानुष्ठान करो, इनको हम सुनकर भी नहीं सुनना चाहते हैं, देखकर भी देखना नहीं चाहते हैं, क्योंकि ये सब गुण तो हम लोगों में बिल्कुल ही नहीं हैं, हम तो घोर तमोगुण में फँसे हुए हैं।

कर्म करने के लिए आग्रह चाहिए, इसके अतिरिक्त दैव भी चाहिए। दोनों की ही आवश्यकता है। तब फल की सिद्धि होती है। प्रयत्नशील बनना, आलस्यरहित होना, ये तुम्हारे हाथ में हैं, फलसिद्धि तुम्हारे हाथ में नहीं है, तुमको उस ओर ध्यान देने की भी आवश्यकता

नहीं है। तुमको तो देखना है कि तुम अपने उद्देश्य को ठीक बनाए रखने मे समर्थ हो सके हो या नहीं। कर्मयोग में गीताकार तुमको इस प्रकार बनने की शिक्षा दे रहे हैं।

कर्मयोग का दूसरा उद्देश्य है — शक्तिक्षय का निवारण करना। योग है — कर्म करने की कुशलता। जिस कर्म में जितनी शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक है, उतनी ही प्रयोग करनी चाहिए, उससे कम भी नहीं और अधिक भी नहीं। फल की कामना न करने पर ही यह सम्भव हो सकता है। फल की ओर ध्यान देने पर मानो यदि असफलता हुई, तो अनुताप से तुम्हारी कितनी शक्ति का ह्रास हुआ! कर्मयोग का कथन है कि शक्ति-ह्रास न करो। शक्ति का सचय करो तथा शारीरिक शक्ति के सार-अश को मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्ति में परिणत करो। संयम तथा कर्मयोग की यही शिक्षा है। जितनी शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक है, उतनी ही काम में लगाओ। तुम्हारी जितनी क्षमता है, उतनी मात्रा में तुमने उसका प्रयोग किया है या नहीं, सदा इस ओर ख्याल रखो। किन्तु जो तुम्हारे हाथ में नहीं है, उसके लिए माथा पटककर, हाय-हाय कर शक्ति का क्षय न करो। फल की कामना करनेवाले भोगी पुरुषों की शक्ति का सदा इसी प्रकार से क्षय होता रहता है। इसीलिए उनकी कर्म करने की शक्ति भी दिन प्रतिदिन घटती जाती है। अतः एकमात्र उद्देश्य की ओर दृष्टि रखकर कर्म करते रहो।

इस प्रकार से कर्म करने का योग्य पात्र कौन है? — जो अपने मन को वशीभूत करने में सफल हुआ है। इस तरह कर्म करने का परिणाम

क्या होता है? —— कर्मबन्धन दूर होकर शनैः शनैः पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन में इस कर्मयोग का अनुष्ठान विशेष रूप से देखने में आता है। देखा जाता है कि उनके इन्द्रिय-मन सर्वदा सभी प्रकार के कार्यों में सलग्न रहने पर भी स्वयं वे किंचिन्मात्र भी फलाकांक्षी नहीं थे। उनके सदृश अवतार ही जगत् के यथार्थ गुरु हैं। अवतारों की जीवनचर्या ज्ञानविस्तार तथा लोक-शिक्षा के लिए है। उनकी जीवनचर्याओं को देखकर उस प्रकार से कार्य करना सीखो। अन्यथा सयमी न बनकर फलाकांक्षा को लेकर कार्य में प्रवृत्त होने से मन क्रमशः इन्द्रियों का दास बन जायेगा एव इन्द्रियों के द्वारा ही हमारा सर्वनाश हो जायेगा। इन्द्रियों का दास बनने से काम न चलेगा, क्योंकि ऐसा होने पर कर्म-सम्पादन न होगा, उद्देश्य को भी खोना पडेगा। इन्द्रियों तथा मन को वशीभूत करना होगा। महान् उद्देश्य को सामने रखकर निष्काम भाव से कर्म करते रहो। ज्ञानयोगी तीव्र वैराग्य की सहायता से जिस अवस्था को प्राप्त होते हैं, देखोगे कि कर्म के द्वारा कर्मयोगी भी ठीक उसी अवस्था में पहुँच जायेंगे, दोनों का उद्देश्य एक ही है, किन्तु मार्ग भिन्न भिन्न हैं। जब तक वे मार्ग में हैं, तब तक दोनों में भले ही भिन्नता रहे, किन्तु लक्ष्य पर पहुँचने पर उनमें कोई अन्तर नहीं रह जाता।

पञ्चम अध्याय

कर्मयोग

(३१ जनवरी, १९०३ ई., कलकत्ता विवेकानन्द-समिति में प्रदत्त वक्तृता का सारांश।)

कर्मयोग का कहना है कि मनुष्य को कर्म करना ही पड़ेगा। कर्म को त्यागकर मनुष्य कभी नहीं रह सकता। जब तक शरीर रहेगा, मृत्यु न होगी, तब तक कोई न कोई, कुछ न कुछ कर्म करना ही पड़ेगा। मनुष्य के लिए कर्म-त्याग असम्भव है।

पुनः दूसरी ओर शास्त्र का कथन है, "जब तक सब कर्मों को न त्यागा जायेगा, तब तक मनुष्य के लिए ज्ञानलाभ तथा मुक्ति बहुत दूर हैं।"

साधारणतया देखने पर ये दोनों बातें अत्यन्त विपरीत हैं। इनका सामञ्जस्य करना बहुत ही कठिन है। इसलिए गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कर्मयोग का उपदेश प्रदान कर उन दोनों विरोधी सिद्धान्तों की मीमांसा किए दे रहे हैं; वे कह रहे हैं कि पूर्णतया कर्मरहित अवस्था में न पहुँचने पर ज्ञानलाभ नहीं होगा, शान्ति भी नहीं मिलेगी, यह ठीक है; किन्तु हाथ-पैर समेटकर बैठे रहने से ही उस अवस्था की प्राप्ति होगी, यह बात नहीं है। उससे तो तुम कपटाचारी बन जाओगे। कर्मरहित अवस्था को प्राप्त होकर शरीरेन्द्रियों द्वारा कर्म

करने पर भी तुम्हारे अन्दर "मैं कर्मरहित हूँ—शरीरेन्द्रियों से सम्पूर्ण पृथक हूँ"—इस प्रकार का भाव सर्वदा बना रहेगा। ऐसी कुशलता के साथ कर्म किया जा सकता है कि कर्म करते करते शनैः शनैः मनुष्य उस अवस्था में पहुँच जाता है। अतः कर्मयोग का यही मूलमन्त्र है—कर्म के अन्दर रहकर भी अपने को कर्मरहित बनाये रखने की शिक्षा ग्रहण करना।

शरीर तथा मन के द्वारा निरन्तर कर्मानुष्ठान होगा, फिर भी स्वय कर्मरहित होकर रहना होगा—यही यथार्थ में अकर्म या कर्म-रहित अवस्था है। मैं तो हाथ-पैर समेटकर बैठा हुआ हूँ किन्तु मेरा मन हवाई किले बना रहा है, यह कर्मरहित अवस्था नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कि जो वास्तविक कर्मरहित अवस्था को प्राप्त करने में समर्थ है, "मनुष्यों में वही बुद्धिमान है, वही योगी है, तथा उसके द्वारा ही सब कर्म ठीक ठीक सम्पन्न होते हैं।" यथा—

"कर्मण्यकर्म य. पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥"

कर्म में रत रहकर जो अपने को कर्मरहित देखता है तथा जो इस बात को भी समझता है कि आलसी बनकर कुछ कर्मों को त्याग देने से कर्मरहित होना असम्भव है, मनुष्यों में वही बुद्धिमान है, वही योगी है तथा वही सब कर्मों को ठीक ठीक कर सकता है।

अत. शरीर मन, इत्यादि को कर्म नियुक्त रखना पड़ेगा; साथ ही अपने को सम्पूर्ण कर्मरहित अनुभव कर अपने में निरन्तर योगी की अविराम शान्ति को भी स्थापित रखना होगा। इस प्रकार हममें से

प्रत्येक के अन्दर कर्म तथा ज्ञान का सामञ्जस्य स्थापित होगा। मुक्त पुरुषों के लिए यह भाव श्वास-प्रश्वास की तरह सहज होने पर भी साधकों को अत्यन्त यत्नपूर्वक अनेक चेष्टा तथा सुखदुःख-मिश्रित विभिन्न कर्मों में संलग्न रहकर इसे प्राप्त करना पड़ता है।

कर्म एवं ज्ञान इन दोनों में सम्बन्ध तथा सामञ्जस्य स्थापन ही गीता के पहिले पाँच अध्यायों का प्रधान लक्ष्य है। मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि गीताकार के आविर्भाव के समय ज्ञान तथा कर्म के सम्बन्ध को यथार्थ रूप से न समझ पाने के कारण साधारण लोगों ने शास्त्र के उद्देश्य को भ्रमात्मक बना डाला था। ज्ञान तथा कर्म परस्पर विरोधी हैं—एक के अनुष्ठान करने पर दूसरे का अनुष्ठान कभी नहीं किया जा सकता—लोगों की ऐसी धारणा बन चुकी थी। अभी भी हमारे देश में अनेक विषयों में इस प्रकार की भ्रान्त धारणा विद्यमान नहीं है—इस बात को कौन कह सकता है? उदाहरणार्थ, हममें से पुराने लोगों में ऐसे अन्धविश्वास पाये जाते है कि धर्मानुष्ठान करना हो तो वन में जाना पड़ेगा, संसार के किसी प्राणी के लिए कुछ करने पर धर्मलाभ न होगा; अथवा संसार में स्त्री-पुत्रों को लेकर सुख-शान्ति से रहना ही जीवन का उद्देश्य है; संसार त्याग कर, कर्मरहित होकर ज्ञानी बनना—बाप रे बाप! यह किस प्रकार का ज्ञान है, यह तो अस्वाभाविक उपायों का अवलम्बन कर विकृत-मस्तिष्क हो जड़ की तरह बन जाना है—अंग्रेज गुरु के चरणों में बैठकर हमारे सुशिक्षित (?) नवीन छोकरों का यह जो अद्भुत विश्वास उत्पन्न हुआ है, इन सब विषयों में दूसरों की बातों में न

आकर स्वय शास्त्र का विचारपूर्वक अध्ययन करके देखने से क्या ज्ञात होगा? यही कि ये सब धारणायें भ्रमात्मक हैं। शास्त्र की इस बात को तो कुछ लोग एकदम भूल बैठे हैं कि कर्मानुष्ठान के द्वारा पहिले मन-बुद्धि को शुद्ध किए बिना ज्ञान-लाभ होना असम्भव है। कुछ लोग तो 'बिना पढ़े ही पण्डित हैं'—जैसा कि परमहंसदेव कहा करते थे कि कुछ लोगों की सत्यासत्य की कसौटी इस प्रकार की है कि 'यह बात अखबार में तो प्रकाशित नहीं हुई है अथवा अंग्रेज तो इस बात को नहीं मानते हैं, तो यह सत्य कैसे हो सकती है?'—अत: ये लोग शास्त्रकथित ज्ञान को मानवीय उन्नति का चरमोत्कर्ष कैसे मान सकते हैं।

शास्त्र का कथन है कि मनुष्य को पहिले वेदाभ्यास करना चाहिए। तब धर्म में उसकी निष्ठा होगी। धर्म क्रियात्मक है। अतः धर्म-लाभ करने की इच्छा से मनुष्य विभिन्न कर्मों का अनुष्ठान करेगा। नाना प्रकार के कर्मों को करते करते अनेक प्रकार के सुख-दु.ख का अनुभव होने पर शनै शनै· उसमें यह ज्ञान उत्पन्न होगा कि 'जगत् अनित्य है'। तब वह फिर स्वयं सुखी और श्रेष्ठ बनने के लिए प्रत्येक कार्य का अनुष्ठान न कर, निष्काम भाव से, कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार से क्रमश· उसकी मन-बुद्धि शुद्ध हो जाने पर वह अपनी लाभ-हानि का हिसाब लगाना एकदम छोड़ देगा। इसी का नाम यथार्थ त्याग है। विवेक-बुद्धि से प्रेरित इस त्याग का जीवन में एक बार आविर्भाव होने पर उसके साथ ही साथ हृदय में नित्य वस्तु को प्राप्त करने का एक विशेष आग्रह उदित होता है

एवं उस विषय का ज्ञान भी तत्क्षण ही उपस्थित होता है। तब सब विषयों में सब प्रकार से 'एकत्व' का अनुभव होने लगता है। बाहर-भीतर सर्वत्र ही वह केवल उस 'एक' को ही देखता है। एक बार इस एकत्व-ज्ञान का उदय होने पर फिर कभी उसका लोप नहीं होगा—जैसे बालू पर आलोक-क्रीड़ा ही मरीचिका है, एक बार यह ज्ञान उत्पन्न होने पर फिर वहाँ जल का भ्रम नहीं होता।

जीवन में इस एकत्व-ज्ञान का अनुभव कर फिर भी लोकशिक्षा या किसी अन्य उद्देश्य के लिए कुछ द्वैत-बुद्धि का आश्रय लेकर कर्म किया जा सकता है। जैसा कि परमहंसदेव कहा करते थे, "स्वरज्ञ गायक आरोह द्वारा उच्चतम स्वर में पहुँचता है और फिर अवरोह के द्वारा नीचे के स्वर में उतरता है, जब जैसी इच्छा हुई, वैसा ही स्वर का आलाप करता है।" एक-ज्ञानी के लिए कर्म करना या न करना उसकी मुट्ठी के भीतर रहता है। किन्तु हज़ारों चेष्टाएँ करने पर भी, फिर कभी वह साधारण लोगों की तरह काम, काञ्चन, यश, सम्मानादि को 'चीज़, वस्तु, माल' या जीवन का एकमात्र उद्देश्य नहीं मान सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे कि एक बार इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होने पर कि मरीचिका जल नहीं है फिर जहाँ ऐसी भूलबुद्धि उत्पन्न होती है, वहाँ तुम जा सकते हो तथा उस भूल को बारम्बार देख तथा दिखा सकते हो, किन्तु फिर कभी जल की तृष्णा मिटाने को तुम वहाँ नहीं जाते।

ज्ञान-लाभ का एकमात्र उपाय कर्म है, इस बात को ध्यान में न रखने से बड़ी विश्रृङ्खलता उपस्थित होगी। अति सामान्य कर्म से

उस ज्ञान का थोड़ासा आभास लेकर बैठे रहने से काम न चलेगा। अविद्यामय काम-काञ्चन को जीवन का उद्देश्य बना लेने से काम न होगा। ज्ञान के लिए ज्ञान की चर्चा करनी होगी। ज्ञान में तन्मय होना पड़ेगा, पागल बनना पड़ेगा, 'मत्त' हो जाना पड़ेगा।

कर्मयोग के द्वारा बुद्धि सूक्ष्म तथा मार्जित होने पर ही उससे ज्ञान की उपलब्धि होगी। परमहंसदेव कहा करते थे, "भगवान् विषयबुद्धि से परे हैं, किन्तु शुद्धबुद्धि के गोचर हैं।" अतः फलकामना को त्यागकर कर्म करना ही ज्ञान-लाभ का एकमात्र उपाय है; और अपना हानि-लाभ यदि हमारे कर्म का उद्देश्य न बने, तब चाहे जिस प्रकार के भी कर्म हम क्यों न करें, उनसे क्रमश. ज्ञान का विकास होगा ही। कर्म में दोष नहीं है—कदापि नहीं है, किन्तु दोष हमारे अन्दर है। अपने लाभ को कर्म का उद्देश्य बनाकर हम दोषी बन गए हैं, अपने जाल में स्वयं फँस चुके हैं तथा मुक्त होने के सूत्र तक को भी सदा के लिए खो चुके हैं। अन्यथा यदि अपने लाभ की आकांक्षा को चिरकाल के लिए त्यागकर स्वार्थगन्धरहित किसी महान् उद्देश्य को सामने रखकर हम कार्य करते रहें, तो गीताकार कहते हैं—

"हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते।"

बड़ी मात्रा में नरहत्या करने पर भी हम हत्यारे नहीं बनेंगे। और कोई हमारी हत्या करे, तो भी हम नहीं मरेंगे—इस प्रकार का अनुभव होगा। पतिव्रता की तथा धर्मव्याध की कथा हम लोगों ने महाभारत में पढ़ी या सुनी है। किन्तु उन सब आदर्श चरित्रों की तरह कर्म करना हम एकदम भूल गए हैं। तभी तो यह दुर्दशा है।

गीताकार इसीलिए कह रहे हैं, "निष्काम होकर कर्म करो, निरन्तर कर्म करो, किन्तु कर्म के अविच्छिन्न अनुष्ठान में स्वयं कर्मरहित बने रहो तथा योगियों की अचल शान्ति का अनुभव करो।"

कहा जाता है कि मनुष्य-एक क्षुद्र ब्रह्माण्ड है। बृहत् ब्रह्माण्ड में जो वस्तुएँ हैं, इस पिण्ड (नर-देह) में वे सभी स्वल्पाकार में विद्यमान हैं—किन्तु है सब कुछ। दूसरी ओर पिण्ड में जो कुछ है, उसका बृहत् रूप बहिर्जगत् में मौजूद है। मनुष्यों में जिस प्रकार कर्म के अन्दर यह कर्मरहित अवस्था है—केवल उसके अनुभव की अपेक्षा है—उसी प्रकार बहिर्जगत् के निरन्तर परिवर्तन तथा गति के अन्दर भी अचल क्रियारहित शान्तभाव सर्वदा वर्तमान है। स्थूलतः विचार से यह बात संम्भव नहीं प्रतीत होती। नाना प्रकार से अनवरत स्पन्दनशील इस जगत् में गतिरहित, क्रियारहित अवस्था कब और कहाँ देखने में आती है? मनीषी दार्शनिक कहते हैं कि सुख-दुःख, प्रकाश-अन्धकार आदि परस्पर विरोधी द्वन्द्वों की तरह क्रिया तथा क्रियाराहित्य, गति तथा विश्राम के द्वन्द्व भी इस जगत् में सदा एक साथ विद्यमान हैं। क्रिया, गति इत्यादि को उनके विपरीत क्रिया-राहित्य तथा गतिराहित्य आदि अवस्थाओं के साथ तुलना करके ही हम समझा करते हैं। जहाँ वैसी तुलना नहीं की जा सकती, वहाँ क्रिया तथा गति भी हमारे अनुभवसाध्य नहीं हैं। हम लोगों को केवल अनुभव नहीं होता है, इतना ही नहीं, किन्तु हम जिनको क्रिया तथा गति इत्यादि कहते हैं, वास्तव में वे वहाँ विद्यमान भी नहीं हैं। जगत् में विभिन्न वस्तुओं को विभिन्न प्रकार से अवस्थित देखकर, उनकी

तुलना द्वारा ही हमें निरन्तर गति तथा क्रिया का ज्ञान होता है; किन्तु एक बार समग्र जगत् की एकता की धारणा करने पर फिर उसमें गति का अनुभव करना सम्भव नहीं है। शान्त निष्पन्द क्रिया-रहित अवस्था वही है। इसे सुनकर सम्भवतः यह कहोगे, 'यह तो कल्पना है।' दार्शनिक हँसकर कहते हैं कि नहीं, यह निरी कल्पना नहीं है—वास्तव में यही यथार्थ सत्य है। तुम्हारे विज्ञान, धर्म इत्यादि सभी शास्त्रों का तो कहना है कि यह जगत् एक ही पदार्थ है; न तो एक के अतिरिक्त दो पदार्थ हैं और न दो शक्तियाँ ही। साथ ही वह पदार्थ तथा शक्ति भी एक ही तत्व से विकसित दो रूप हैं। किन्तु सर्वदा नाना वस्तुओं में ध्यान बँटे रहने के कारण हम इस जगत् को नाना अङ्ग-प्रत्यङ्ग-नख-केशादिसमन्वित मनुष्य-शरीर की तरह परस्पर-सम्बद्ध एक जीवित वस्तु के रूप में नहीं ग्रहण कर पाते। नानात्व का प्रत्यक्ष अनुभव ही इस गोलमाल का कारण है, वह हमें अपनी परिधि में फँसा रखता है और हम सोचने लगते हैं कि क्रियारहित जगत् है ही कहाँ? मनुष्य की आत्मा में द्वन्द्वहीन क्रियारहित अवस्था सर्वदा विद्यमान है। प्रत्येक पदार्थ के अन्तस्तल में भी वही ब्रह्मभाव विद्यमान है। साथ ही जीव-जडादि के समष्टिभूत इस जगत् में भी वैसा ही है। अत· यह 'एक-भाव' कविकल्पना या आकाशकुसुम की तरह मिथ्या नहीं है। मूलतः उसके आश्रय से ही यह जगत् अवस्थित है। हमारे अन्दर सर्वदा विद्यमान उस अवस्था की एक बार ठीक ठीक प्रत्यक्षानुभूति हो जाने पर अनित्य जन्म, जरादि परिवर्तन तथा उनकी चरम परिणति मृत्यु भी हमें फिर डरा नहीं

सकती। इसलिए भगवान् गीताकार पुनः पुनः अर्जुन को सामने रखकर समग्र जगत् को शिक्षा दे रहे हैं कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि निरन्तर कर्म करते रहें किन्तु तुम उस अकर्म भाव को प्रत्यक्ष कर सब कर्मों से अलग रहना सीखो। हे मनुष्य, तुम जागरूक बनो, अपने महत्व का ध्यान रखो, जागो —— अजर अमर आत्मा की उपलब्धि कर अचल अटल शान्ति में स्थित हो जाओ। किसी प्रकार की दुर्बलता में आत्म-समर्पण कर तथा अनित्य वस्तुओं को सर्वदा पकड़ रखने की चेष्टा कर दुखी न बनो। कर्मफल की ओर ध्यान न देकर कर्म करते रहो। उसी का नाम यथार्थ सन्यास है तथा कर्मयोग भी वही है।

'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।'

दोनों मार्ग एक ही स्थान पर ले जाते हैं।

'संन्यासः कर्मयोगस्तु निःश्रेयसकरावुभौ।'

कर्म से ज्ञान महान् है, यह बात अर्जुन के मन से फिर भी किसी प्रकार से दूर नहीं हो रही है। वे सोच रहे हैं कि ज्ञान के उदय होने पर जब कर्म नहीं रहता है, तब ज्ञान ही असली चीज़ या लक्ष्य है। अतः कर्म से ज्ञान निश्चय ही महान् है। वे भूल गए हैं कि जिस ज्ञान को गीताकार मनुष्य-जीवन के लक्ष्य के रूप में उनके सामने उपस्थित कर रहे हैं, वह देशकालातीत, असीम और अपरिच्छिन्न ज्ञान है। अर्जुन जिसे ज्ञान मान रहे हैं, वह ज्ञान नहीं। वह तो देशकाल की सीमा के अन्दर, कार्य-कारण-शृंखला में चिर आवद्ध है। गीता के चतुर्थ अध्याय में हम देखते हैं कि अर्जुन का फिर वही प्रश्न है तथा भगवान् श्रीकृष्ण उसी विषय को फिर समझाने

की चेष्टा कर रहे हैं, परन्तु अब की बार एक और ही रास्ते से वे अर्जुन को समझा रहे हैं।

भगवान् कह रहे हैं, हे अर्जुन! यह न समझना कि कर्मयोग कोई नवीन मार्ग है। ज्ञान, भक्ति इत्यादि मार्गों की तरह यह भी अति प्राचीन काल से मानव को चरम लक्ष्य में पहुँचा रहा है तथा जनकादि प्रख्यात राजर्षियों ने इस पथ का अवलम्बन कर सिद्धिलाभ किया है, विशेषकर क्षत्रिय राजाओं ने। मैंने पहिले सूर्य को इस कर्मयोग का उपदेश दिया था। सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा। मनु ने फिर इक्ष्वाकु को उपदेश दिया। इस प्रकार दीर्घकालपर्यन्त बहुजनहिताय बहुजनसुखाय नित्यकर्मानुष्ठायी पुरुषार्थ-प्रधान, तेजस्वी क्षत्रिय राजन्यवर्ग में वह जीवित था। आज वह कर्मयोग नष्ट हो चुका है। अपने सामान्य सुख को छोड़ लोक-कल्याण की ओर दृष्टिपात कर कोई भी कर्मानुष्ठान करना नहीं चाहता। धार्मिक कर्मों में भी व्यवसाय-बुद्धि आ गई है, अन्य कर्मों का तो कहना ही क्या! इसीलिए आज तुमसे फिर उसी प्राचीन कर्मयोग की बातें कह रहा हूँ। हीनबुद्धि, कापुरुष, इन्द्रियदास, रुग्णशरीर, भग्नोत्साह व्यक्ति के लिए इस पथ का अवलम्बन कर सिद्धिलाभ करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु तुम-जैसे लोककल्याण में लीन, श्रद्धावान्, बुद्धिमान्, तेजस्वी वीर पुरुष ही इस उदार भाव को भलीभाँति समझकर दृढ़ता के साथ इसका आचरण तथा अनुष्ठान कर सकते हैं। इसीलिए तुमसे कह रहा हूँ। जिसे अपने शरीर पर सदा खरोंच लगने का डर हो, धन, मान, यश, प्रभुत्व इत्यादि लाभ करने की चिन्ता हो, यहाँ तक कि जिसको अपनी

मुक्ति के बारे में भी चिन्ता हो, वह कभी कर्मयोगी नहीं बन सकता। कर्मयोगी वह बन सकता है जो तेजस्वी तथा उदारहृदय वीर है, और जो सत्य के लिए या दूसरों के थोड़े से भी कष्ट को दूर करने के लिए, देशभक्ति के लिए, महापुरुषों के गौरव के लिए, स्वयं को भी भूल सकता है, अपने-सुख ऐश्वर्यादिकों के नाश होने पर भी जो कुछ चिन्ता नहीं करता है।

पुरानी वस्तु का आदर करना मनुष्य का स्वभाव है। परिवर्तन के स्रोत का अतिक्रमण कर दीर्घकाल तक जो एक ही भाव से विद्यमान रहता है, मनुष्य उसी को आदर की दृष्टि से देखता है। अनित्य के अन्दर नित्य का अनुसन्धान मानव के अन्तःकरण में सर्वदा वर्तमान रहने के कारण ही सम्भवतः ऐसा होता है। गुणी महापुरुषों के हृदयों में यह भाव साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक प्रबल देखने में आता है। अर्जुन जैसे श्रेष्ठवीर के हृदय में इस भाव की प्रबलता को देखकर ही भगवान् कर्मयोग का इतिहास वर्णन कर उसे उस ओर प्रेरित कर रहे हैं।

एक बात और है,—क्षत्रिय लोग विशेषकर क्षत्रिय नरेश ही इस कर्मयोग का अनुष्ठान कर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति किया करते थे तथा उनसे ही ब्राह्मणादि अन्य वर्णों में इस कर्मयोग का प्रचार हुआ था। इसे सुनकर बहुतों को आश्चर्य हो सकता है, खासकर आजकल के ब्राह्मणों को; क्योंकि उनका ऐसा विश्वास है कि भारत का जो कुछ शास्त्रज्ञान है, उस पर ब्राह्मणों का ही एकाधिपत्य था, तथा उन्होंने ही उसे दयापूर्वक अन्य वर्णों को प्रदान किया है। यह बात कुछ

अंश में सत्य होने पर भी सर्वांश में सत्य नहीं है, इसके विपुल प्रमाण विद्यमान हैं। अभी हमने देखा कि गीताकार कह रहे हैं कि कर्मयोग पहिले क्षत्रिय राजन्यवर्ग में ही था। छान्दोग्य उपनिषद् के पढ़ने से भी पता चलता है कि आरुणि तथा श्वेतकेतु, दोनों ब्राह्मण पिता-पुत्र प्रवाहन जैवलि राजा के निकट तथा प्राचीनशालादि पञ्चब्राह्मण कैकेय अश्वपति राजा के शिष्यत्व को स्वीकार कर ब्रह्मज्ञान का उपदेश ले रहे हैं। अतः कर्मयोग तथा ब्रह्मज्ञान का प्रथम उदय क्षत्रिय राजन्य-वर्ग में ही हुआ था, शास्त्रों के पढ़ने से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है।

कर्मयोग के इतिहास के वर्णन से अर्जुन के मन में और एक प्रश्न उदय हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि उन्होंने पहिले सूर्य को कर्मयोग का उपदेश दिया था। अर्जुन ने विचारा कि यह बात कैसे सम्भव हो सकती है? कृष्ण का जन्म तो कुछ दिन पूर्व हुआ और सूर्य की उत्पत्ति तो कृष्ण से अधिक प्राचीन है। तो फिर कृष्ण ने सूर्य को उपदेश किस प्रकार से दिया? इस सन्देह के प्रसङ्ग में ही ईश्वर, ईश्वरावतार तथा उनके स्वरूपसम्बन्धी बातों की व्याख्या की गई है।

भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं, 'सूर्य को मैंने बहुत प्राचीन काल में अपने अन्य जन्म में इसका उपदेश दिया था और किस रूप में मैंने इसका उपदेश दिया था, यह बात मुझे अच्छी तरह से स्मरण है; क्योंकि मैं ईश्वरावतार हूँ, मेरे ज्ञान का कभी लोप नहीं होता। हम दोनों ही अनेकों बार विभिन्न स्थानों में जन्म लेकर बहुजनहिताय अत्यन्त

कष्टजनक अनुष्ठान कर चुके हैं तथा आगे भी करते रहेंगे। तुमको वे बातें याद नहीं हैं, किन्तु मुझे तो पूर्वकालीन सारी बातें याद हैं।' अवतार के सम्बन्ध में भगवान् गीताकार की क्या शिक्षा है, इसकी हम आगे चलकर आलोचना करेंगे।

षष्ठ अध्याय

ज्ञान तथा भक्ति का समन्वय

(बंगला २९ पौष, १३१० में बालि हरि-सभा में प्रदत्त वक्तृता का सारांश।)

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"

"जब जब धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का प्रादुर्भाव होता है, तभी यथार्थ धर्म संस्थापन के लिये मैं अवतीर्ण होता हूँ।" जब कभी भक्ति तथा ज्ञान की शिक्षा के लिए आचार्य की आवश्यकता होती है, तभी भगवान् आचार्य-रूप में अवतीर्ण होते हैं। वे ही यथार्थ गुरु हैं तथा जगत् भी उन्हीं का अनुसरण कर अग्रसर होता है। मायान्ध तथा विषयासक्त जीवों की आँखें वे ही खोलते हैं। अपनी सत्ता से वे ही समस्त जगत्-रूप में विराजित हैं, स्थावर, जङ्गम जो कुछ भी हम देख रहे हैं, सब उन्हीं की प्रतिमूर्ति है। दूसरी ओर, समस्त प्राणियों में चैतन्य-रूप से उनकी ही सत्ता विद्यमान है। यथार्थ धर्म तथा शान्ति की स्थापना के लिए वे ही जगद्गुरु-रूप में अवतीर्ण होते हैं। मनुष्य-शरीर में माया के अधीश्वर-रूप से अवतीर्ण होकर वे ही माया के वशीभूत जीवों को मुक्ति का यथार्थ मार्ग दिखाते हैं। युग-

युग में उनका रूप विभिन्न होने पर भी अवतार भिन्न भिन्न नहीं, वरन् एक ही हैं। प्रयोजनानुसार वे ही विभिन्न रूपों में अवतीर्ण होते हैं। जब जिस भाव की आवश्यकता होती है, तब उसी भाव से अवतीर्ण होकर वे ही लोगों को शिक्षा प्रदान किया करते हैं। अनेक बार हमारे इस भारतवर्ष में अवतीर्ण होकर वे अनेक प्रकार के भावों की शिक्षा दे गए हैं। इसीलिए भारतवर्ष सब ज्ञानों का भण्डार था। जब कभी भी आवश्यकता हुई, तभी उन्होंने भारतवर्ष को हाथ पकड़-कर उठाया है। इसीलिए अभी तक पददलित, अत्याचारित तथा दुर्भिक्षपीड़ित भारत में कितने ही धर्मवीर तथा कर्मवीर आविर्भूत होकर हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। अतः हमारे देश में अभी तक अन्यान्य देशों से अधिक धर्मविषयक यथार्थ ज्ञान तथा भक्ति के आदर्श देखने में आते हैं। धर्म से ही हमारी उन्नति है। हमारा देश धर्मप्राण है, धर्म से ही मानो वह जीवित है। यहाँ पर नित्य क्रिया शौचादि से लेकर विवाह-पद्धति इत्यादि वृहत्तर सामाजिक सभी कार्य धर्म के अंगस्वरूप माने जाते हैं।

इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि हमारे आचार-व्यवहार, चाल-चलन सभी एकमात्र धर्म-लाभ के लिए हैं, चाहे हम उनका पालन उचित रूप से कर सकें या न कर सकें। यह सच है कि अन्यान्य देश अन्यान्य विषयों में बहुत श्रेष्ठ हैं। राजनीति, समाजनीति तथा युद्ध-विग्रह इत्यादि ऐहिक उन्नति के विषयों में और और देश विश्व में श्रेष्ठ आसन पा चुके हैं। भारत का प्राण धर्म ही है, धर्म के बल पर ही भारत एक दिन जगत् में सर्वश्रेष्ठ था, और भविष्य में पुनः धर्म के सहारे ही

इसकी उन्नति होगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इसकी सूचना के रूप में आज चारों ओर भगवन्नाम में रुचि, भजन-साधन में श्रद्धा तथा भगवत्प्राप्ति की आकांक्षा देख रहा हूँ। साथ ही चारों ओर ज्ञान तथा भक्ति के समन्वय के विषय में आलोचनाएँ भी सुनने को मिल रही हैं। ज्ञान शब्द के उच्चारणमात्र से लोग पहिले किसी अद्भुत वस्तु की कल्पना किया करते थे, किसी को ज्ञानी कहने से नास्तिक समझकर लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। 'अहं ब्रह्मास्मि' उच्चारण करने पर भक्त लोग कानों में अंगुली डाल लेते थे और कुसंस्काराच्छन्न कहकर ज्ञानी भी भक्त की उपेक्षा कर दिया करते थे। इस प्रकार दीर्घ काल तक भक्ति तथा ज्ञान मार्ग के साधकों में इस तरह का विरोध चलता रहा, किन्तु ज्ञान तथा भक्ति मार्ग के जो आचार्य एव प्रचारक थे, उनमें ऐसा विरोध कभी भी नहीं था।

एक कहानी है कि किसी समय शिवजी तथा रामचन्द्रजी में विरोध हुआ, जिसके फलस्वरूप शिवजी के चेले भूतों और रामचन्द्रजी के अनुचर वानरों में लगातार युद्ध होने लगा। अनन्तर शिवजी तथा रामचन्द्रजी का मिलन हो गया, दोनों एकप्राण तथा एक-आत्मा बन गए, किन्तु वानर तथा भूतों का संग्राम फिर भी बन्द न हुआ। इसी प्रकार आचार्यों में कोई वास्तविक विरोध कभी नहीं था, किन्तु उनके अनुयायी लोग चिरकाल से ही विवाद करते आ रहे हैं। आजकल सम्भवतः इस विरोध का क्रमशः ह्रास हो रहा है। यह आँधी मानो शनैः शनैः धीमी होती जा रही है। योग, कर्म, ज्ञान, भक्ति इत्यादि सभी भाव एक ही भगवान् से निकले हैं। इन चारों ही मार्गों के

अवलम्बन से मनुष्य को धर्म-लाभ हो सकता है, सर्वत्र ही लोगों में मानो ऐसा भाव तथा इस प्रकार की धारणा होने लगी है।

मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि यथार्थ ज्ञानी तथा भक्त में वास्तविक कोई विरोध नहीं है। शास्त्र के पढ़ने से पता चलता है कि पहिले जो यथार्थ ज्ञानी समझे जाते थे, उन्हीं लोगों में से निर्मल भक्ति-स्रोत ने प्रवाहित होकर जगत् को पवित्र तथा कृतार्थ बना दिया है। और जो यथार्थ भक्त माने जाते थे, उन्होंने ही ज्ञानालोक के विस्तार के द्वारा मानव को समदृष्टि के पथ में अग्रसर किया है। ज्ञान तथा भक्ति में सामञ्जस्य है या नहीं, और यदि है तो कहाँ है, यही आज का आलोच्य विषय है। शिवावतार ज्ञानाचार्य गुरु शंकर प्रणीत ग्रन्थों को पढ़ने से हम क्या देखते हैं? उनके रचित गंगा, शिव, अन्नपूर्णा तथा विष्णु सम्बन्धी स्तोत्रों को पढ़कर हम यह कैसे कह सकते हैं कि वे भक्तिशून्य शुष्कहृदय ज्ञानी व नास्तिक थे? शारीरक-भाष्य तथा उनके रचित अनेक देव-देवियों के स्तवादि को पढ़ने से पता चलता है कि भक्ति तथा ज्ञान का अपूर्व सामञ्जस्य उनमें विद्यमान है। इसी प्रकार भक्तावतार श्रीगौराङ्गदेव में भी अद्वैतज्ञान का विशेष प्रकाश देखने में आता है। यदि वे ज्ञानविद्वेषी होते तो पूज्यपाद केशवभारती से वे संन्यास ग्रहण क्यों करते? दोनों मार्गों के आचार्यों के जीवन तथा शिक्षाओं में तो किसी प्रकार का विरोध देखने में नहीं आता। तो फिर विरोध कहाँ है? विरोध है बातों में तथा वाक्य-विन्यास में। अनुयायियों की स्वार्थमयी परिचालना में विरोध विद्यमान है। भक्ति तथा ज्ञान का चरम लक्ष्य एक ही है। एक ही लक्ष्य में पहुँचने के लिए ये

तृतीय है अर्थार्थी। किसी विशेष कामना से मन व्याकुल है, किन्तु उस कामना की पूर्ति करने की शक्ति अपने में नहीं है। एतदर्थ जो भगवान् की उपासना करता है, वही अर्थार्थी भक्त है। चतुर्थ ज्ञानी है। ज्ञानी ही श्रेष्ठ है। भगवान् ने कहा है, "तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥" —सर्वदा जिसका मन भगवान् के साथ सयुक्त है, वह ज्ञानी भक्त ही भक्त में श्रेष्ठ है। ज्ञानी का मन सर्वदा ही काम-काञ्चन, विषयानुराग तथा शरीरानुराग से परे है। ज्ञानी के सम्बन्ध में एकभक्ति विशेषण इसीलिए प्रयुक्त हुआ है। नदी के अविश्रान्त स्रोत की तरह एकभक्ति का भी विराम नहीं है, वह सर्वदा ही भगवत्पादपद्मों में प्रवाहित है। एकभक्ति के विशेष लक्षण का वर्णन देवीगीता में सुन्दर रूप से किया गया है। एक पात्र से दूसरे पात्र में उड़ेलने पर तेल जैसे अखण्डित गाढ़धारा में गिरता है, वैसे ही एकभक्ति-धारा कभी विषयवायु से आलोड़ित होकर खण्डित या तारल्य को प्राप्त नहीं होती है। ज्ञानी के लक्षण के बारे में भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, "वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः"—सभी भगवन्मय है, इस प्रकार का ज्ञान जिसको हुआ है, वही महात्मा ज्ञानी है। ऐसा व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकार के ज्ञानी का देहात्मबुद्धिरूप तुच्छ अहङ्कार चिरकाल के लिए विदा हो जाता है। तब वह समझने लगता है, "मैं ही सबके अन्तर तथा बहिर्देश में हूँ, मैं ही सबका साक्षीस्वरूप हूँ, मेरी शक्ति से ही मन बुद्धि क्रियाशील हैं, मैं ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का साक्षीस्वरूप हूँ, मैं ही

सर्वभूतों में हूँ तथा सर्वभूत मुझमें ही हैं।" इस प्रकार का ज्ञान बहुत साधना तथा प्रयत्न के फलस्वरूप उपस्थित होता है। इस प्रकार का ज्ञान उदित होने से पहिले भगवान् की ओर आकर्षण होना आवश्यक है। विषयी का विषयों में, सती का पति में, कन्जूस व्यक्ति का धन में जिस प्रकार आकर्षण होता है, उसी प्रकार का आकर्षण होना चाहिए। जैसे शराबी शराब में आकृष्ट होता है, वैसे ही भगवान् के प्रति आकृष्ट होना चाहिए। भगवान् ने गीता में कहा है, "ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते", विषय का ध्यान करते करते उसमें जैसे अत्यन्त आसक्ति उपस्थित होकर जीव को शनैः शनैः विनाश की ओर ले जाती है, धर्म के विषय में भी वैसी आसक्ति की आवश्यकता है। भगवान् का ध्यान करते करते वैसी आसक्ति उपस्थित होने पर मनुष्य विनाश को प्राप्त न होकर मुक्ति की ओर शीघ्र अग्रसर होता है।

प्रथमतः जो भक्त हैं, भगवत्प्रेम से जिनका जीवन पवित्र हो चुका है, उनके अपूर्व भावों को देखकर साधारण मानवों का मन उस ओर आकृष्ट होता है तथा वैसे ही बनने की उनकी इच्छा होती है। विषय में जिस प्रकार की आसक्ति होती है, यह भी उसी प्रकार की आसक्ति है। भेद इतना ही है कि यह आसक्ति उच्च विषय के अवलम्बन से उत्पन्न होने के कारण भगवान् की ओर ले जाती है। इसलिए देवर्षि नारद आदि आचार्यों ने कहा है कि कामादि रिपु तब तक हैं, जब तक कि वे रूपरसादि विषयों का अवलम्बन कर मन में उदित होते हैं, किन्तु एक बार यदि उनकी गति को बदल दिया जाय, तो वे ही भगवत्प्राप्ति के सहायक बन जाते हैं। किसी कामना को पूर्ण करने

के लिए मनुष्य प्रथमतः भगवान् से प्रार्थना करता रहता है, क्योंकि उनमें ही सर्व कामनायें पूर्ण करने की शक्ति विद्यमान है। सकाम मन से प्रार्थना करते करते मनुष्य जब एक बार उनसे प्रेम का नाता जोड़ लेता है, तब फिर उसके लिए लौटने का मार्ग नहीं रह जाता। सकाम प्रेम से ही क्रमशः निष्काम प्रेम आकर उपस्थित होता है। निष्काम प्रेम के उदय होने पर फिर पतन की आशंका नहीं रहती। शाण्डिल्य ऋषि ने इस प्रेम का लक्षण दिया है, "सा परानुरक्तिरीश्वरे" —'ईश्वर में जो परम अनुराग है, वही प्रेम है, वही पराभक्ति है।' भक्तराज प्रह्लाद ने भी एक जगह कहा है, "या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥" –'हे भगवन्, विषयी का विषयों में जैसा आकर्षण होता है तुम्हारे प्रति भी मेरा वैसा ही आकर्षण हो।' ऐसा मालूम होता है कि प्रह्लाद ने मानो अत्यन्त साधारण बात कही है। किन्तु गहराई के साथ विचार करने पर इसकी सार्थकता ज्ञात होती है। सांसारिक भावों में मग्न रहनेवाले साधारण मानवों के हृदयों में उच्च कल्पनाएँ स्थान नहीं पातीं। संसार में पिता-माता, मित्र तथा पति इत्यादि से जैसा प्रेम किया जाता है, वैसा प्रेम या चित्त का आकर्षण भगवान् में होने पर भगवत्प्राप्ति में फिर विलम्ब नहीं रह जाता।

इसीलिये वैष्णवों ने भक्ति के पाँच विभाग किए हैं। उन्होंने अनुभव किया है कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति के अनुसार एक न एक सांसारिक नाता अत्यन्त मधुर मालूम होने लगता है। महाभारत में हम देखते हैं कि भीष्म, उद्धव, विदुर, अर्जुन, युधिष्ठिर आदि विभिन्न

व्यक्ति एक ही श्रीकृष्ण को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार कर रहे हैं, किन्तु उनके साथ उन सबका सम्बन्ध एक ही प्रकार का नहीं है। विदुर का दास्यभाव तथा अर्जुन का सख्यभाव है। भाव तथा प्रवृत्ति के अनुसार विभिन्न जन विभिन्न कर्मों में नियुक्त हैं। श्रीकृष्ण के समीप गीता-श्रवण कर एवं उनकी पादुकाओं को लेकर उद्धव बदरिकाश्रम में तपस्या करने चले। विदुर ने नाना प्रकार की सेवा तथा विभिन्न तीर्थों का पर्यटन कर तत्पश्चात् परमहंस पदवी और अद्वैत ज्ञान को प्राप्त करके शरीर-त्याग किया, और अर्जुन उसी गीतोक्त ज्ञान को प्राप्त करके अलौकिक उद्यम के साथ युद्ध में प्रवृत्त हुए। गोपियों का दूसरा ही भाव है। श्रीकृष्ण का चिन्तन करती करती गृहकर्म, पति, पुत्र, कन्या, यहाँ तक कि अपने देह तक को भूलकर वे एकदम श्रीकृष्ण में तन्मय हो गईं। एक गोपिका अपने पति के द्वारा घर में बन्द कर दी गई। फल यह हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करती करती तन्मय होकर समाधि में उसने शरीर-त्याग कर दिया। यह बात भागवत में लिखी है। रास-लीला की कथा पर विचार करने से यह तन्मयता और भी स्पष्ट रूप से समझ में आती है। रासलीला के समय श्रीकृष्ण अकस्मात् जब अन्तर्हित हुए, तब गोपिकाएँ श्रीकृष्ण का चिन्तन करती करती इस प्रकार तन्मय हो गईं कि वे अपने पृथक् अस्तित्व को एकदम भूलकर अपने को ही श्रीकृष्ण मानकर भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। भक्ति की चरमावस्था में ऐसी तन्मयता होती है कि उपास्य-उपासक एक हो जाते हैं। श्रीराधिकाजी से एक समय प्रश्न किया गया था, "आप श्रीकृष्ण को किस भाव से देखती हैं?" इसके

उत्तर में उन्होंने कहा, "नासौ रमणः, नाहं रमणी —मैं रमणी हूँ और वे पुरुष तथा मेरे पति हैं एवं इसीलिए मैं उनसे प्रेम करती हूँ, यह मैं एकदम भूल चुकी हूँ। श्रीकृष्ण के प्रति मेरा प्रेम साधारण रमणी के प्रेम की तरह शरीरानुराग या गुणानुराग को अव-लम्बन कर प्रवाहित नहीं है, किन्तु वह निर्हेतुक तथा स्वतः ही सर्वदा प्रवाहित है।" अतः यह स्पष्ट है कि भक्ति की चरमावस्था में देहात्म-बुद्धि तथा तुच्छ अहभाव एकदम दूर हो जाते हैं। अब ज्ञानी के सम्बन्ध में यह कहाँ तक सत्य है, देखना चाहिए। ज्ञानी कहते हैं कि यह अहभाव ठीक नहीं है, यह तो माया है, तब वास्तविक 'अह' कौन है? वास्तविक 'अह' शरीर मन इत्यादि से परे है तथा इनका साक्षीस्वरूप है, सभी अवस्थाओं में वह एक-रूप से वर्तमान है, उसकी ह्रास-वृद्धि नहीं होती। यही 'अहं' सबमें व्याप्त है। हम लोगों का यह तुच्छ अहंभाव उस महान् 'अहं' का अशमात्र है। उस महान् 'अह' से ही इस तुच्छ अहंभाव का उद्भव है। उस महान् 'अह' की सतत उपलब्धि करना तथा इस तुच्छ अहंभाव को उस महान् 'अहं' में निमज्जित कर देना ही ज्ञानी का लक्ष्य है।

अतः यह देखा गया कि भक्त की तन्मयता तथा ज्ञानी का महान् 'अह' एक ही वस्तु हैं। भक्त तथा ज्ञानी दोनों ही तुच्छ अहंभाव को विलीन कर देना चाहते हैं। हनुमानजी से एक बार पूछा गया, "आप किस भाव से श्रीरामचन्द्रजी की उपासना करते हैं?" इस पर उन्होंने उत्तर दिया, "शरीर तथा इन्द्रियादि में जब मेरा मन निबद्ध रहता है, तब मैं देखता हूँ कि वे प्रभु हैं और मैं उनका दास

हूँ। जब मैं अपने को जीवात्मा रूप से अनुभव करता हूँ, तब देखता हूँ कि वे पूर्ण हैं और मैं उनका अंश हूँ। वे सूर्यस्वरूप हैं तथा मैं उस सूर्य की असंख्य किरणों में से एक हूँ। और जब समाधि अवलम्बन कर मेरा मन सारी उपाधियों से पृथक् हो जाता है, तब देखता हूँ कि हम दोनों एक हैं।" अतः यह स्पष्ट है कि स्थूल शरीर तथा स्वार्थ-परता के साथ मन संलग्न रहने पर 'सोऽहम्' कहना निरर्थक है। अपने को जीवात्मारूप से प्राप्त करने पर मनुष्य अपने को भगवान् का अंशमात्र समझ सकेगा। जब समस्त बन्धनों से मुक्त होकर मानव अपने यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि करेगा, तब अपने उपास्य के साथ उसका अभिन्न भाव आ जायेगा।

मन के अवस्थाभेद से ही द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद तथा अद्वैत-वाद आकर उपस्थित होते हैं। इसलिए भिन्न भिन्न अधिकारी के लिए ये तीनों प्रकार के मत शास्त्र में देखने को मिलते हैं। हमने यह देखा कि भक्त सब कुछ भगवान् के पादपद्मों में समर्पण कर तुच्छ अहंभाव का विनाश कर देना चाहते हैं। और ज्ञानी भी कहते हैं, "मुक्ति तब होगी, जब अहंभाव का नाश होगा।" अहंभाव ही जंजाल है। अतः दोनों का ही उद्देश्य एक है, केवल कथनमात्र का भेद है। मनुष्य इसको नहीं समझ पाता, किन्तु यथार्थ भक्त तथा यथार्थ ज्ञानी बातों में नहीं भूलते। वे यथार्थ सत्य का अनुभव करना चाहते हैं। उत्तर-गीता में कहा गया है, "मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि। सारं तु योगिनः पीतास्तक्रं पिबन्ति पण्डिताः॥"—"सारवस्तु अर्थात् शास्त्र का यथार्थ लक्ष्य भगवान् को छोड़कर पण्डित लोग केवल वाग्-

वितण्डा रूप मठा को ही पीते हैं। ज्ञानी पुरुष ही दूध की सार वस्तु मक्खन की तरह शास्त्र के सार को ग्रहण करते हैं।" उत्तर-गीता में इस विषय का एक और श्लोक है—

"यथा खरश्चन्दनभारवाही
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।"

'चन्दन ढोनेवाला गधा केवल बोझ ही ढोता रहता है, चन्दन की गन्ध का अनुभव नहीं कर सकता।' पाण्डित्याभिमानियों की भी यही दशा है।

यदि कार्य में परिणत न किया जा सके, तो शास्त्र की व्याख्या सुनना और न सुनना दोनों ही समान हैं। सत्य का अनुभव करना पड़ेगा, ज्ञान तथा भक्ति को जीवन में परिणत करना होगा। उन्नत बनने के लिए ज्ञान, भक्ति तथा योग, इन तीनों ही की आवश्यकता है। दो पंख तथा एक पूँछ के न रहने से चिडिया उड़ नहीं सकती। इसी प्रकार ज्ञान, भक्ति तथा योग, इन तीनों के न रहने से यथार्थ उन्नति के मार्ग में विघ्न उपस्थित होता है। ज्ञान-विचाररहित भक्त का मन कीर्तन करते समय जिस प्रकार ऊँचा उठ जाता है, कीर्तन के बाद फिर विषयों के प्रलोभन में फँसकर उसी प्रकार नीचे उतर आता है। विचार-विवेकरहित मन को उस समय रोक रखना असम्भव है। ज्ञान-विचार तथा योग ही तब समता की रक्षा में सहायक होते हैं। मन को वशीभूत करना पडेगा। यह शक्ति भी हमारे ही अन्दर मौजूद है।

मन एवं वाणी को एक करना ही इसका प्रधान साधन है। परमहंसदेव कहा करते थे कि मन और वाणी को एक करना ही मुख्य

साधन है। यदि मन और वाणी को एक कर कोई भगवान् से प्रार्थना करे, तो क्या वे उसे पूर्ण नहीं करेंगे? ध्रुव की कथा का स्मरण करो। मन और वाणी को एक कर मन में वह भगवान् को पुकार रहा था। कोई भी सहायक नहीं था, यहाँ तक कि गुरु तक की सहायता भी नहीं थी। वह मन और वाणी को एक कर पाया था, इसीलिए भगवान् ने उसे गुरु प्रदान किया तथा दर्शन दिया। मन और वाणी एक होने पर फिर जो कुछ भी आवश्यक है, उसे भगवान् ही लाकर उपस्थित कर देंगे। गीता में भी भगवान् हमसे कह रहे हैं, "मन और वाणी को एक करो।" युद्धक्षेत्र में मोह तथा भय ने आकर अर्जुन के मन को घेर लिया था। मोह हुआ था — आत्मीय वर्ग के लिए, जो युद्धार्थी बनकर कुरुक्षेत्र में खड़े हुए थे। और भय हुआ था — इच्छामृत्यु भीष्म, समकक्ष कर्ण, शास्त्राचार्य द्रोण तथा शिवजी के वर से गर्वित जयद्रथ को विपक्ष में प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखकर। इन लोगों से युद्ध करना सहज नहीं था। माया का अपूर्व प्रभाव है। अर्जुन जैसे महापुरुष को भी सामयिक मोह तथा भय ने आ घेरा। इस प्रकार का मोह तथा भय मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। अर्जुन अपने कर्तव्य को भूल चुके थे। भीतर तो शोक, भय तथा मोह के कारण युद्ध न करने का उनका संकल्प था परन्तु वाणी के द्वारा उन्होंने धर्म के छल से युद्ध को त्यागकर भिक्षावृत्ति का अवलम्बन करना चाहा। भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, उन्होंने कहा —

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।"

'तुम पण्डित की तरह, ब्रह्मज्ञानी की तरह बातें कर रहे हो और

उसके साथ ही साथ आत्मीयवर्ग के लिए शोक भी कर रहे हो।' यथार्थ ज्ञानी पुरुष कभी अपने अथवा दूसरों के शरीर-विनाश के निमित्त शोक नहीं करते। तुम्हारी वाणी तथा कर्म में ऐक्य नहीं है। परमहसदेव भी हमको यही बात सुनाया करते थे, "मन और वाणी को एक करो।" मन-वाणी एक होने पर उन्नति को कौन रोक सकता है? इसी साधन के प्रभाव से जो कुछ भी आवश्यक है, सभी अपने आप आकर उपस्थित हो जाता है।

पूर्वोक्त प्रथम श्लोक तथा निम्नोक्त श्लोक को ध्यान में रखकर और उन्हें जीवन में परिणत करने में सफल होने पर धर्म-लाभ में और कुछ भी बाकी नहीं रह जाता।

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।"

'मन और वाणी को एक कर मेरी शरण में आओ।' एक बात और भी है, जिसे कि हम सभी भूल बैठे हैं, वह है—सर्वभूत में नारायण-ज्ञान। परमहंसदेव कहा करते थे, "संसार में धनी परिवार की टहलनी की तरह रहो।" मालिक के बच्चों को टहलनी अपने बच्चों की तरह पालती है, किन्तु वह जानती है कि मालिक उसे जब नौकरी से हटाएगा, तभी उसे चला जाना पड़ेगा। इसी प्रकार से ससार में रहो। स्त्री-पुत्रों को उन्होंने धरोहर-स्वरूप तुम्हारे पास रखा है। और धरोहर ही क्यों माना जाय, स्त्री, पुत्र इत्यादि नाना रूपों से वे ही तुम्हारी सेवा ले रहे हैं। जो कुछ भी कर रहे हो, उन्हीं की सेवा कर रहे हो। दरिद्रों को भोजन करा रहे हो या भिक्षुक को एक पैसा दे रहे हो, भिक्षुक तथा दरिद्र के

रूप में वे ही तुम्हारी सेवा ले रहे हैं। इस भाव को हृदय में धारण कर कर्म का अनुष्ठान करते रहो। अहंकार का परित्याग करो। अहंकार ही से सर्वनाश है। इस भाव का उदय होने पर फिर किसी प्रकार का भय नहीं है, फिर कोई भी बन्धन तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकता। भगवान् के श्रीपादपद्मों में यही प्रार्थना है कि यह भाव पूर्णतया हम सबके हृदयों में आज से उत्पन्न होकर सदा बना रहे।

ॐ हरि ॐ। शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

के कारण तथा इसकी औषधि के बारे में निर्देश दिया है — "विजय पर गौरवान्वित होने की भावना न आकर हमारे हृदयों में सत्य के प्रति जितनी ही श्रद्धा बढ़ेगी, उतनी ही यह अन्वेषण की चेष्टा हम लोगों में बलवती होगी कि विरोधी पक्ष क्यों इतनी दृढ़ता के साथ अपने मत का समर्थन कर रहा है, एव 'अपने लक्ष्य के बारे में उन्होंने ऐसा कुछ अवश्य प्रत्यक्ष किया है, जिसे अभी तक हम नहीं देख पा रहे हैं'—इस प्रकार की धारणा के साथ ही साथ उन लोगों ने सत्य का जितना अनुभव किया है, तथा हम भी जितना अनुभव कर पाए हैं, इन दोनों को मिलाने की चेष्टा हममें होगी।" परमहंसदेव इसके बारे में अपनी सुमधुर ग्रामीण भाषा में कहा करते थे — "अरे भाई, किसी वस्तु की 'इतिश्री' न करना — भगवान् की तो बात ही दूर है। 'इतिश्री' करना, 'यह वस्तु तो यही है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती' ऐसा सोचना बुद्धिहीन लोगों का कार्य है।"

अनन्त ईश्वर में 'इतिश्री' असम्भव है।

यह ब्रह्माण्ड है — अनन्त ईश्वर के अनन्त भावों की लीला। इसका छोटे से छोटा अश भी अनन्तत्व का ही परिचय प्रदान करता है। एक तृणखण्ड, एक बालुकण या एक प्राणी-बीज, जिसका पता विशेष शक्तिसम्पन्न अणुवीक्षण-यन्त्र के द्वारा ही लग सकता है — इन सबकी गठन-प्रणाली तथा गुण इत्यादि की सीमा को कौन पा सकता है? इसीलिए वेद का वाक्य है — "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण-मुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥" वे पूर्ण हैं, उनका

जगत् पूर्ण है; उस पूर्णान्त-स्वरूप से ही इस सीमारहित जगत् की सृष्टि हुई है, किन्तु इससे उनकी हानि अथवा ह्रास नहीं हुआ है; क्योंकि अनन्त-पदार्थ से अनन्त-पदार्थ ही क्यों न निकले वह तो जैसा अनन्त है, वैसा ही अनन्त बना रहता है।

वास्तव में मनुष्य स्वयं भी अनन्त है तथा अनन्त के साथ ही वह चिरकाल से खेल रहा है। 'हस्तामलक' की तरह वह अनन्त को पकड़ रहा है, स्पर्श कर रहा है, देख रहा है और सुन भी रहा है। केवल उसके अन्दर न जाने कहाँ कुछ ऐसी गड़बड़ी हो गई है, जिसके कारण उसे अपने बारे में 'सान्त' बुद्धि होने लगी है। पिता-माता, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव, जड़-चेतन, उच्च-नीच, क्षुद्र-महान् सभी जगह एक बार उस अनन्त चेतना को लाओ तो सही,—देखोगे, धराधाम स्वर्ग हो उठेगा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु लुप्त हो जायेंगे; धर्म, भक्ति तथा मुक्ति फिर काल्पनिक अस्पष्ट शब्दमात्र न रहेंगे; साथ ही सर्वत्र सबके भीतर तुम देख पाओगे — उस जीवन्त विश्वरूपी विराट को, 'सर्वत. पाणिपादन्तत्सर्वतोऽक्षिशिरो मुखं' को, भीषण से भी भीषण तथा सुन्दर से भी सुन्दर को, प्रगाढ़ अन्धकार तथा अनन्त ज्योतिःतरंग के विचित्र समावेश को, करालवदना शवशिवा-मूर्ति को! इस देवदुर्लभ पूर्ण-दर्शन का प्रथम सोपान ही है— 'इतिश्री न करना।'

'मैं' तथा 'तुम'।

'मैं' तथा 'तुम'— ये दोनों ही अत्यन्त सरल शब्द हैं। जन्म से लेकर मनुष्य इन दोनों का सम्भवतः जितना प्रयोग करता है, उतना

अन्य किसी शब्द का नहीं। इन दोनों के भाव पृथक् हैं, इस बात की शिक्षा जीवन में पहिले ही हो जाती है, साथ ही ये दोनों वस्तुएँ इस प्रकार परस्पर-विरोधी हैं कि इनमें गडबड़ी होने की कोई भी सम्भावना नहीं है। किन्तु ज्ञान तथा भक्ति विषयक विरोध इन दोनों शब्दों से जितना हुआ है उतना और किसी से नहीं।

'तुम' तथा भक्ति।

भक्त कहता है—"प्रभु, मैं कुछ भी नहीं हूँ, तुम्हीं सब कुछ हो। रोग-शोक से जर्जरित, काम-क्रोध से उन्मत्तप्राय, यश-सम्मान के भिखारी, वायु की तरह अस्थिरबुद्धि—इस 'मैं' की भी क्या कोई शक्ति है? इस 'मैं' के द्वारा क्या कभी कोई साधन-भजन का भी अनुष्ठान होगा, जिससे कि तुम्हारी प्राप्ति होगी? जल में पत्थर का तैरना, वानरों का सङ्गीत तथा आकाश-कुसुम भी किसी समय सत्य हो सकते हैं, किन्तु इस नगण्य 'मैं' की कुछ शक्ति है और उस शक्ति के द्वारा तुम्हारी प्राप्ति होगी—यह कदापि सम्भव नहीं। तुम मेरे प्राणों के भी प्राण-स्वरूप हो, सर्वस्व धन हो, तुम्हारी जो इच्छा है, वही पूर्ण हो। नाहं नाहं—तुम्हीं हो, तुम्हीं हो।" भक्त एक महान् 'तुम' को देखता है जिनके प्रवर्तित नियम के अनुसार ही सूर्य तथा नक्षत्र घूम रहे हैं, अग्नि ज्योति प्रदान कर रही है, मृत्यु सबको ग्रस रही है। भक्त देखता है कि फिर वही 'तुम' प्राणों के प्राण, नेत्रों की ज्योति तथा भुजाओं की शक्ति है, प्रेम ही उनका स्वरूप है, साथ ही वे परम रमणीय हैं!! उस सौन्दर्य के सामने और सब सौन्दर्य फीके पड़ जाते हैं, उस शक्ति के सम्मुख अन्य समस्त शक्तियाँ पराजित हैं।

यह महान् 'तुम' निकट से भी निकटतर है, अपने से भी अधिक अपना है। मोहित तथा स्तम्भित होकर भक्त इनको ही इष्टदेव मानकर वरण करता है तथा महान् उत्साह के साथ उस 'तुम'-नाम-महामन्त्र की दीक्षा ग्रहण करता है।

'मैं' तथा ज्ञानी।

ज्ञानी देखते हैं कि शरीर निरन्तर परिवर्तनशील है; मन भी उसी प्रकार है—सर्वदा बदल रहा है, घूम रहा है, घट-बढ़ रहा है। चन्द्रोदयकालीन समुद्र की तरह भाव-धारा कभी तो उत्ताल तरङ्गें लेकर गंभीर गर्जना के साथ दौड़ रही है, और कभी प्रच्छन्नप्रवाह फल्गु की तरह क्षीणधारा में प्रवाहित होकर, बालुकाराशि का अतिक्रमण करती करती सूख रही है। किन्तु बाल्य, यौवन, वार्धक्य—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—शरीर, मन, बुद्धि—भूत, भविष्य, वर्तमान, इन सभी अवस्थाओं में एक अनन्त, परिवर्तनरहित, निर्मल, नित्य स्रोत प्रवाहित हो रहा है, जिसके आघात से अन्तस्तल में सर्वदा 'अहं, अहं' की ध्वनि उठ रही है; अस्थिर चित्तवृत्तियों को विशेष विशेष रूप देकर बुद्धि उन्हें चंचल बना रही है; प्राणचक्र प्रवर्तित होकर इन्द्रियवर्ग को अपने अपने कार्यों में नियुक्त कर रहा है। ज्ञानी इस अनित्य के अन्दर उस नित्य का, अचेतन में उस चेतन का, शक्तिहीन में उस परिपूर्णशक्ति का दर्शन पाकर स्तम्भित तथा विस्मित हो उठते हैं। साथ ही वे देखते हैं कि जगत् में—स्त्री-पुरुष, जीव-जन्तु, ग्रह-नक्षत्र, जड़-चेतन, इन सभी में—उस नित्य की छवि विद्यमान है। वे देखते हैं कि इस तुच्छ 'मैं' का यथार्थ स्वरूप महान्

तथा नित्य है। परम उत्साह के साथ वे कह उठते हैं, "इस जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय मुझमें ही हो रहे हैं। मैं ही ज्ञान तथा शक्ति का एकमात्र आकर हूँ। मैं ही नारायण हूँ। मैं ही 'पुरान्तक' महेश्वर हूँ। न तो मुझे मृत्यु तथा शंका ही स्पर्श कर सकते हैं और न जरा, जन्म, बन्धन ही।"—

"न मृत्युर्न शंका न मे जातिभेद.,
पितानैव मे नैव माता न जन्म।
न बन्धुर्न मित्र गुरुर्नैव शिष्य:
चिदानन्दरूप: शिवोऽह शिवोऽहम्॥"

भक्त तथा ज्ञानी का लक्ष्य एक ही है।

तब फिर भक्त के 'महान् त्वं' तथा ज्ञानी के 'महान् अह' में भेद कहाँ है?—केवल वाक्यों में। दोनों एक ही वस्तु को लक्ष्य मानकर भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग मात्र करते हैं। दोनों ही कहते हैं कि इन्द्रियसमूह को संयत करो, नित्य पदार्थ में विश्वास करो तथा इस 'तुच्छ अह' 'अपक्व अह' का परित्याग करो जो कि समस्त दु ख तथा बन्धनों का कारण है। 'अपक्व अह' को भक्ति या विवेक-वैराग्य की प्रज्वलित अग्नि में पकाकर, महान् 'अह' या 'त्व' के साथ जोडकर 'पक्का' बना लो। और, यह नाता भी बलपूर्वक नहीं जोड़ना पड़ेगा,—देखोगे कि दोनों ही में परस्पर आकर्षण तथा बन्धुत्व अनन्त काल से विद्यमान हैं।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य. पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ १॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीश पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परम साम्यमुपैति ॥" ३ ॥ मुं० उ०

जीवात्मा तथा परमात्मा—दो पक्षी ।

ऊर्ध्वमूल अधःशाख इस संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष की दो शाखाओं में दो पक्षी बैठे हुए हैं। दोनों ही सुन्दर हैं तथा नित्य-प्रेम में परस्पर बँधे हुए हैं। उनमें से एक तो सुख-दुःखमय फल के भोग में लगा हुआ है, 'अहं-मम' ज्ञान में निरन्तर मोहित तथा व्यथित है, और दूसरा अपनी महिमा से दीप्तिमान है, उसकी दृष्टि भोग की ओर एकदम नहीं है। संसार के दुःख-कष्टों से घबड़ाकर जब वह पहिला पक्षी फलभोग की आकांक्षा को त्याग देता है, तब तत्काल ही उसके समीप दूसरे का हिरण्मयरूप तथा कोटिब्रह्माण्ड-व्यापी महिमा का विकास होने लगता है। फिर उसे सुख-दुःख, पुण्य-पाप स्पर्श नहीं कर पाते। काम-काञ्चन के आवरण में उसके अजनरहित नेत्र फिर कभी आवृत नहीं होते। अनित्य के अन्दर एकमात्र उस नित्य पदार्थ की, अनेक में उस 'एक' की उपलब्धि करने के फलस्वरूप उसे अपने तथा अन्य सभी के विषय में उस महान् 'एक' की धारणा होने लगती है एवं वह परम समता तथा शक्ति को प्राप्त होता है।

अज्ञान के आवरण में भगवान् का प्रकाश।

वास्तव में मनुष्य कभी भी भगवान् से दूर नहीं है। नीच-संसर्ग से, नीच कर्मों के द्वारा चाहे वह कितना भी नीचगामी क्यों न

बने, उसकी दृष्टि उन हिरण्मय पुरुष के 'कोटिसूर्यप्रतिकाश' रूप से कभी भी पूर्णतया वंचित नहीं है। संसार के दुःख-कष्टों से अधीर होते ही वह उनको देख पाता है, रोग-शोक से व्याकुल होते ही उनके विषय में उसे कुछ न कुछ उपलब्धि होने लगती है। नहीं तो अशिक्षित, हिंसापरायण, घोर स्वार्थी वनचरों में धर्मभाव कहाँ से अंकुरित होता है? प्रगाढ अन्धकारपूर्ण उनके जीवन में कहाँ से श्रद्धा का आलोक उपस्थित होकर शनैः शनैः स्वार्थपरता की रात्रि को दूर कर देता है? धूमकेतु से भी अधिक अनियत-गति उनके चरित्रों में समाज-बन्धन, विवाह-बन्धन, स्वजनप्रीति, देश-हितैषिता इत्यादि कहाँ से प्रकट होकर अन्त में उन्हें जगत् की मंगल-कामना में नियुक्त करते हैं? उदयोन्मुख सूर्य, पर्वत-विदारक वज्र, विशेष शक्तिसम्पन्न पदार्थ या परलोकगत आत्मा के समक्ष क्यों वे नतजानु, नतमस्तक होते हैं? कहोगे कि यह तो अज्ञता है, कुसंस्कार है, मायाविनी कल्पना के माया-मन्त्र से मुग्ध होकर मनुष्य भौतिक जड़ पदार्थ तथा शक्ति में चेतन की इच्छामयी लीला का आरोप करने लगता है; कहोगे कि भय या प्रीति से अथवा विचित्र स्वप्नराज्य में—जहाँ कि दृष्ट-अदृष्ट कितने ही लोगों के साथ मेल-मिलाप होता है, जहाँ प्रकाश तथा अन्धकार के विचित्र संमिश्रण में अस्पष्ट, किंचिद्-व्यक्त, विकास-रहित तथा अव्यक्त छायामूर्तियाँ छायानुरूप नाता जोड़कर सजीवतया प्रकट होने लगती हैं, किन्तु तीव्र ज्ञानसूर्य के किरण-विस्तार के साथ ही न जाने कहाँ विलीन हो जाती हैं—उसी स्वप्नराज्य में सबसे पहिले मानव हृदय-पटल पर श्रद्धा तथा धर्म

के वीज अकुरित होते हैं। यह बात सत्य तथा ध्रुव सत्य होने पर भी 'धर्म की जड़ कहाँ है' इस प्रश्न की यथार्थ तह में नहीं पहुँच पाती। अज्ञता तथा कुसंस्कार क्या कभी उन्नति का द्वारोद्घाटन कर सकते हैं? कल्पना क्या कभी वास्तविक सत्य को उत्पन्न कर सकती है? तो फिर इस शंका का समाधान कहाँ है? मनुष्य के अन्दर कुण्डली-आकार में अजेय असीम शक्ति निहित है। जन्म, जरा तथा मृत्यु तक भी उस शक्ति के निकट पराजित हैं। अनन्त बाधा-विघ्नों को भेद करती हुई देश-काल की सीमा को अतिक्रमण कर 'अवाङ्मनसोगोचर' राज्य में उस शक्ति की तीक्ष्ण दृष्टि पहुँच जाती है। इसीलिए वह उस नित्य पदार्थ के रूप की कुछ न कुछ छाया को सभी वस्तुओं में प्रत्यक्ष करती रहती है, इसीलिए वह अनित्य वस्तुओं की नित्य-ज्ञान से धारणा करने लगती है। जिस क्षण उस महाशक्ति के सचालन से पूर्ण सत्य के दर्शन की वास्तविक आकांक्षा मनुष्य को होगी, तत्काल ही उसे संसार-वृक्ष की उच्च शाखा में अवस्थित हिरण्मयवपु आदिकवि के सत्य तथा परिपूर्ण स्वरूप का अवाध रूप से दर्शन होने लगेगा।

मूल विषय में सभी शास्त्र अभिन्न हैं।

जगत् के समग्र धर्मशास्त्र इसी बात की एक स्वर से घोषणा कर रहे हैं। हिन्दुओं का वेद, मुसलमानों का कुरान, बौद्धों का त्रिपिटक तथा ईसाइयों की बाइबिल, सभी इस विषय में एकमत हैं। किन्तु किस मार्ग का अवलम्बन कर अग्रसर होने पर इस चरम सत्य को प्राप्त किया जा सकता है, इस बारे में मतभेद हैं। स्वर्ग तथा सृष्टि के वर्णन में, मुक्ति तथा मानवात्मा की तत्कालीन अवस्था के विषय

में अनेक मतभेद पाये जाते हैं। किन्तु पूर्ण अनन्त स्वरूप को छोडकर इस आपात अपूर्ण-स्वरूप में मानव की सामयिक प्रतीति हो रही है तथा शनै· शनैः मनुष्य उसी पूर्ण अनन्त की ओर पुनः अग्रसर हो रहा है, इस विषय में सभी एकमत हैं। चाहे भक्ति हो या योग, ज्ञान हो या कर्म अथवा नीति, सभों की इस विषय में एक ही उक्ति है। जगत् के समस्त पुराण भी रूपक की पुष्पित भाषा में मानव को इसी बात का उपदेश दे रहे हैं। अपने देश के पुराणों की बातें तो रहने दो, विदेशी यहूदी-पुराण बाइबिल भी प्रारम्भ में यही कह रहा है— "मानव ने पहिले परिपूर्णस्वरूप, निष्पाप होकर जन्म लिया था; भगवदाज्ञा की अवहेलना के कारण वह उस स्वरूप से भ्रष्ट हो गया है; पुनः उन्हीं की कृपा से वह उस स्वरूप को प्राप्त होगा।" अभी तक तमाम यहूदी लोग इन्द्रधनु के विचित्र आवरण में इसी आशाप्रद कृपा-वाक्य का भक्ति से गद्‌गद होकर पाठ किया करते हैं। "निष्पाप बनो, भगवद्भक्ति या ज्ञान-लाभ के द्वारा निरञ्जनत्व को प्राप्त करो," इस बात को भक्ति तथा ज्ञानशास्त्र दोनों ही एक स्वर में कह रहे हैं। "अपक्व अह को पक्व बना लो, जितेन्द्रिय होकर नि·स्वार्थभाव से दूसरों के हित के लिए चेष्टा करते रहो, भगवान् पर अचल विश्वास तथा भरोसा रखो," इस बात की घोषणा भक्ति तथा वेदान्त दोनों ही मिलित कण्ठ से कर रहे हैं। तब फिर मूल विषय में विरोध कहाँ है?

मार्ग का विरोध कैसे दूर होगा?

यह कह सकते हो कि बातों का विरोध तो कभी दूर भी हो सकता है, प्रेम तथा सहानुभूतिपूर्वक दूसरों को अपनाकर, उनकी

दृष्टि तथा भावों के अनुसार उनके धर्म तथा भाषा के अनुशीलन के द्वारा वातों का विरोध तो कभी मिट भी सकता है किन्तु मार्ग का विरोध तो अत्यन्त दुर्जय है। उसे दूर करने का उपाय क्या है? अपने मार्ग का त्याग तो कोई भी नहीं करेगा। साथ ही मार्ग छोड़ देने पर उसके धर्म के साधन ही क्या रहेंगे? इससे तो उसका धर्म एकदम मिथ्या ही सिद्ध हो जायेगा तथा एक धर्म के मिथ्या होने पर अन्य धर्म सत्य हैं, इसका ही प्रमाण कहाँ है? अन्त में फिर तो धर्म केवल वृद्धों का वतङ्गड़ मात्र है तथा नास्तिकता ही श्रेय है, यही धारणा अनिवार्य हो उठती है।

नहीं, मार्ग के विरोध को भी दूर करने का उपाय है। भारत के प्राचीन ऋषि तथा आचार्यगण इस विषय की सुन्दर मीमांसा कर गए हैं। नाम-रूप की विघ्न-बाधाओं को भेद कर धर्म-जगत् में उनकी दृष्टि यथार्थ सत्य के परिपूर्ण स्वरूप को प्रत्यक्ष करने में समर्थ हुई थी—इसी से उपरोक्त बात स्पष्ट हो जाती है। यही उनका प्रात स्मरणीय उज्ज्वल गौरव है। यही धर्मवीर-प्रसविनी-अवतार-बहुल पुण्यभूमि भारत के जातीय गौरव की एकमात्र अत्युन्नत ध्वजा है। स्वदेशप्रीति, समाज-बन्धन, राजनीति, व्यवहार, शास्त्र, स्वास्थ्य-विधि, गृहरक्षा, वाणिज्य तथा युद्ध-विग्रहादि शिक्षाओं के बारे में हमें नतमस्तक होकर यूरोप, अमेरिका इत्यादि पाश्चात्य देशों को गुरु मानना पड़ेगा। किन्तु आत्मा, पर-लोकवाद, धर्म-समन्वय, धर्म-प्राणता, गुरु एव इष्टनिष्ठा, इन विषयों में हमारे ऋषि तथा आचार्यगण सदैव के लिए जगत् में पूज्य तथा गुरुस्थानीय बने रहेंगे; उनकी आशाप्रद, अमृतमयी औपनिषद्-वाणी

व्यक्ति तथा समाज के मन पर अधिकार कर रहा है और फिर नियम की पूर्णता उन्हें नियमातीत दशा में ले जाकर शैशव की विवेकरहित मूढ़ता को वार्धक्य की विचक्षणता तथा अन्त में योगियों की संयम-सहज-अवस्था में परिणत कर रही है। इस प्रकार अनीति से नीति तथा नीति के अतीत अवस्थारूप सोपान-परम्पराओं के द्वारा व्यक्ति तथा समाज-मन धीरे धीरे आगे बढ रहे हैं। कह सकते हो कि युग के प्रारम्भ से लेकर अभी तक पृथ्वी में कुछ व्यक्तियों को छोड़कर ऐसा कोई भी समाज देखने में नहीं आया है, जिसके सभी व्यक्ति इस आदर्श-दशा में पहुँचे हों। उत्तर में कहा जा सकता है कि मस्तक, हस्त, पदादि की समष्टि को जिस प्रकार एक सम्पूर्ण व्यक्ति माना जाता है, उसी प्रकार व्यक्तिसमूह के समष्टि-स्वरूप समाज को भी एक सुमहान् शरीर तथा मनविशिष्ट व्यक्तिविशेष के रूप में समझा जा सकता है। जिस नियम के अनुसार मानव-शरीर परिचालित तथा पुष्ट होकर उन्नत होता रहता है, ठीक उसी नियम के अनुसार समाज-शरीर भी पुष्ट तथा वर्धित होता है। इस परिपूर्ण आदर्श दशा में उपस्थित होते यदि तुमने एक को देखा है तो दूसरा भी किसी समय उसी दशा में पहुँच जायेगा — क्या यह बात तुम्हें अत्यन्त असम्भव मालूम होती है? समाज की इस आदर्श-दशा को सभी युगों में चिन्तनशील मनीषियों की कल्पना ने चित्रित किया है। इसी को सत्ययुग, स्वर्णयुग इत्यादि शब्दों से व्यक्त किया गया है। क्रमविकासवादी हरवर्ट स्पेन्सर, ले कैन्ट, फिस्कप्रमुख पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसे असगत या युक्तिहीन नहीं माना है।

ज्ञान तथा भक्ति का लक्ष्य एवं इष्टनिष्ठा।

ज्ञान तथा भक्ति दो मार्ग मात्र हैं। एक 'सोऽहं सोऽहं' और दूसरा 'नाहं नाहं' कहकर मानव को सत्यस्वरूप की ओर ले जा रहे हैं। जब तक लक्ष्य-वस्तु की प्राप्ति नहीं होती तब तक दोनों मार्ग तथा मार्ग के लक्ष्य साधक को भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। किन्तु उद्देश्य की सिद्धि होते ही साधक की दृष्टि में वह भिन्नता फिर नहीं रहती। वेद का 'तत्त्वमसि', सूफियों का 'अनलहक्' तथा ईसा का 'मेरे पिता तथा मैं एक हूँ' इस बात के विशद प्रमाण हैं। दूसरा उज्ज्वल प्रमाण है— शारदोत्फुल्लमल्लिका रजनी में गहन कुञ्जस्थल पर भक्तिप्राणा व्रज-गोपिकाओं का भक्तिउन्मादजनित श्रीकृष्णलीलाभिनय। फिर भी साधक को अपने मार्ग में निष्ठा रखना आवश्यक है। वातात्मज, वीर चूडामणि श्रीरामदूत की तरह उनके प्राणों की निरन्तर यह पुकार होनी चाहिए—

"श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वः रामः कमललोचनः॥"

'मैं जानता हूँ कि वही एक परमात्मा श्रीनाथ तथा जानकीनाथ रूप में प्रकट हैं, फिर भी कमललोचन राम ही मेरे सर्वस्व हैं।' परमहंसदेव अपनी मधुर भाषा में कहा करते थे, "इष्टनिष्ठा मानो पौधे को घेरने जैसा है। छोटे पेड को न घेरने से लोग उसे कुचल डालते हैं, गाय-बकरी जड़ से उसे खा डालती हैं। इसलिए उसे घेरना नितान्त आवश्यक है। किन्तु पेड़ के बड़े हो जाने पर फिर घेरा लगाने की आवश्यकता नहीं रहती, तब उस पेड़ से हाथी बाँधने पर भी उसकी कोई हानि नहीं होती।"

वेदान्त क्या भगवत्प्राप्ति का एक पथ मात्र है ?

तब 'वेदान्त' क्या भगवत्प्राप्ति के विभिन्न मार्गों में से एक मार्ग मात्र है ? 'हाँ' और 'नहीं' दोनों ही इसके उत्तर हो सकते हैं। जनसमाज में, यहाँ तक कि पण्डित-समाज में भी यह धारणा बनी हुई है कि वेदान्त तथा अद्वैतवाद एक ही बात हैं। 'सोऽहं सोऽहं' करते हुए द्वैताद्वैत के अतीत उस सत्य की प्राप्ति का वेदान्त एक मार्ग मात्र है, यह बात कुछ अंशों में सत्य होने पर भी पूर्णतया सत्य नहीं है। 'वेदान्त' शब्द से यदि वेद के अन्तिम उपनिषद् भाग को ही माना जाय, तब भी तो उसमें द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत इन तीनों ही मतों की समर्थक वचनपरम्परा देखने में आती है। अधिकारी-भेद से उपदेश प्रदान कर वेद ने विशेष विशेष स्थलों में इन तीनों ही मतों को प्रधान माना है। और 'वेदान्त' शब्द से यदि वेद की सारभूत बातें मानी जायँ, तब तो अद्वैत ज्ञान से भी परे की वस्तु को लक्ष्य कर वेद ने केवल अद्वैत मत का ही प्रचार किया है, ऐसा कहने से वेद में असम्पूर्णता-दोष उपस्थित होता है। तब फिर इसकी मीमांसा कहाँ है ? मीमांसा यथार्थ में यहीं विद्यमान है। वेद ने मन-वाणी की अतीत वस्तु का ही उपदेश किया है। किन्तु आध्यात्मिक उन्नति के तारतम्य के अनुसार मनुष्यों में द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत मत क्रमश आकर उपस्थित होते हैं और इसी सोपानपरम्परा का अवलम्बन कर समय आने पर मनुष्य उस परिपूर्ण आनन्दस्वरूप की उपलब्धि करने लगता है। सोपान की प्रत्येक सीढ़ी आवश्यक है। एक के न रहने से दूसरे पर चढ़ा नहीं जा सकता। इस प्रकार ये तीनों ही मत एक दूसरे के पूरक हैं

तथा अवस्था-भेद से मानव में स्वयं आकर उपस्थित होते हैं। देश-काल की सीमा के भीतर नाम-रूप के राज्य में जितने सत्य उपलब्ध हैं, उनकी तरह ये तीनों ही मत अवस्था-भेद के अनुसार समान रूप से सत्य प्रतीत होते हैं। ये तीनों ही मत वेदान्त के अन्तर्भूत हैं। जगत् के समस्त धर्म किस प्रणाली से धीरे धीरे मनुष्य को नाम-रूप से अतीत अवस्था में ले जाकर उन्नति के चरम-सोपान में परम सत्य का दर्शन तथा उपलब्धि करा रहे हैं—इस प्रणाली का निर्देश करना ही वेद का मूल प्रतिपाद्य विषय है तथा यही वेदान्त है। इसीलिए वेद तथा वेदान्तज्ञान कोई मार्गविशेष या मतविशेष नहीं हैं; किन्तु समूचे मतों की—समस्त धर्मों की सारभूत वस्तु हैं। इसी कारण सार्वभौम दर्शन के नाते वेदान्त सबमें श्रेष्ठ बना हुआ है, तथा धर्म के प्रथम अंकुर से लेकर अन्तिम पर्यन्त उन्नति-प्रणाली वेद में विद्यमान रहने के कारण वह 'पुरुष-निःश्वसितम्' अर्थात् भगवान् के साथ नित्य वर्तमान है—इस रूप से हिन्दुओं की दृष्टि में सर्वदा पूज्य बना हुआ है।

ज्ञान को त्याग देने पर धर्म-लाभ नहीं हो सकता।

वेदान्त का एक दूसरा तात्पर्य यह है कि ज्ञान को त्याग देने पर धर्मलाभ नहीं हो सकता। भक्तिशास्त्र में अहैतुकी-भक्ति ही प्रधान तथा मुख्यरूपेण निरूपित होने पर भी ज्ञानमिश्रा-भक्ति ही उसकी प्राप्ति का उपाय है, यह बात पुनः पुनः कही गई है। भक्ति के प्रधान आचार्यों ने भी इसी बात को समझाया है। गोदावरी के तट पर राय रामानन्द के साथ वार्तालाप के समय श्री चैतन्यदेव ने भी इस बात को स्वीकार किया है। किन्तु आजकल अधिकांश लोग ही ज्ञान की

उपेक्षा कर एकदम अहैतुकी भक्तिलाभ करने का प्रयास करते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उनका यह प्रयास पागल की चेष्टा की तरह कभी भी अभीष्ट फल को प्रदान नहीं कर सकता।

उपसंहार — आचार्यदेव * का उपदेश।

अन्त में उस गंगावारिविधौत विशाल उद्यान में 'सौम्यात्सौम्यतरा' 'शवशिवारूढ़ा' मूर्ति के तन्मय सेवक, उस माधवीहार-ग्रथित अश्वत्थ-वट के घन आलिङ्गन-निबद्ध पचवटीतलस्थित तपस्या-जाग्रत साधन-कुटी में ध्यानशील, बाल-स्वभाव, सरलता, माधुर्य तथा तेज के अपूर्व सम्मिलन आचार्यदेव, जिनके उपदेश की प्रत्येक पंक्ति में वेद-वेदान्त तथा दर्शन के निगूढ़ एव दुर्ज्ञेय सत्य सजीव तथा प्रदीप्त होकर हृदय के संशयों को छिन्न-भिन्न करते हुए कोमलमति बालकों के भी मर्मस्थल को स्पर्श कर लेते थे — उन्हीं की दो-चार उक्तियों को स्मरण कर हम आज इसका उपसंहार करते हैं।

"भक्त बनो, किन्तु फिर बुध्दू क्यों बनना? बुध्दू बनने पर ही क्या भगवान् में अधिक भक्ति होगी?"

"भक्त बनो, किन्तु दुराग्रही मत बनो। दुराग्रही बनना अत्यन्त बुद्धिहीनता का कार्य है।"

"जितने मत, उतने ही पथ हैं। अपने मत में निष्ठा रखना, किन्तु दूसरों के मत को द्वेषभाव से न देखना एवं उसकी निन्दा न करना।"

---

* भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस

अष्टम अध्याय

साधना एवं सिद्धि

(कोन्नगर हरिसभा में प्रदत्त वक्तृता का साराश ।)

कुछ दत्तचित्त हो आलोचना करने पर हम देखते हैं कि सभी शास्त्रों ने एक ही बात तथा एक ही लक्ष्य को बतलाया है। यद्यपि सब शास्त्रों में एक ही बात है, फिर भी कुछ अदल-बदलकर कहने से लोगों के लिए वह रुचिकर हो जाती है। साधना एव सिद्धि के बारे में शास्त्रों की दो-चार बातों की आज हम कुछ दूसरे ही प्रकार से आलोचना करेंगे। साधारणतया लोग कहते हैं, "जैसे साधन होते हैं, वैसी ही सिद्धि होती है।" शास्त्र में भी — "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" — यह उक्ति विद्यमान है। जिसकी जैसी भावना, उसकी वैसी ही सिद्धि होती है। साधना एवं सिद्धि में कार्यकारणरूप नित्य-सम्बन्ध सदा वर्तमान है। जो जिस विषय में यत्नशील होंगे, उसमें ही उनको सिद्धि मिलेगी। हमारा धर्म भाषण, अध्ययन तथा अध्यापन का विषय नहीं, किन्तु अनुभूति की वस्तु है। अधिकारी-भेद से तथा मन की अवस्थानुसार साधनाप्रणाली अनेक प्रकार की हो सकती है एव धर्मराज्य में विभिन्न सम्प्रदायों के उद्भव का कारण भी यही है।

हमारे देश में जितने धर्मसम्प्रदाय हैं, विश्लेषण कर देखने पर

उनको चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। जैसे — ज्ञानी, कर्मी, भक्त तथा योगी। जो समस्त विषय तथा विषय-वासना का परित्याग कर केवल आत्मा में ही सन्तुष्ट रहते हैं, वे ज्ञानमार्ग का अवलम्बन करते हैं। और जो सांसारिक विषय तथा वैषयिक कर्मों में संलग्न रहते हुए अपनी अल्प शक्ति को समझकर सर्वशक्तिमान् भगवान् की शरण लेते हैं, वे भक्त हैं। जो लोग कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे कर्मी हैं। और एक प्रकार के लोग हैं जो एकाग्रता के साथ मन के अन्तस्तल तक को अत्यन्त निपुणता के साथ टटोल-टटोलकर समस्त वासना-बीजों को निकाल फेंकने की चेष्टा करते हैं — वे हैं योगी।

हमारे बङ्गदेश में भक्ति की चर्चा ही अधिक है। दूसरी ओर हम ध्यान नहीं देते। हम अपने को नितान्त दुर्बल समझते हैं, हम लोगों में यह बड़ी त्रुटि है। हम अपने को जितने ही दुर्बल तथा पापी समझेंगे, उतने ही हम दुर्बल होते चले जायेंगे। अहंकार जिस प्रकार लोगों के पतन का कारण बन जाता है, उसी प्रकार "मैं दुर्बल हूँ, मैं पापी हूँ" इस तरह के विचार भी धीरे धीरे मनुष्य को दुर्बल बनाकर उन्नति के पथ में बाधक हो जाते हैं, अतः ये दोनों ही त्याज्य हैं, यह बात परमहंसदेव कहा करते थे। किसी समय उनको बाइबिल पढ़कर सुनाया गया। उसमें प्रारम्भ से ही 'पापवाद' की चर्चा है। कुछ अंश सुनने के बाद, उसमें केवल पाप-चर्चा का ही उल्लेख देखकर उन्होंने और अधिक सुनना स्वीकार नहीं किया, वे कहा करते थे, "जिस प्रकार साँप के काटने पर 'विष नहीं है, विष नहीं है,' बारम्बार यह कहकर रोगी के हृदय में विश्वास जमा देने से फिर सचमुच

ही विष नहीं रहता, उसी प्रकार 'मै भगवान् का नाम ले रहा हूँ, अत' मुझमें पाप नहीं है,' पुन' पुन. इस बात को अपने आप कहते कहते वास्तव में फिर पाप नहीं रह जाता।" "मैं पापी हूँ, मैं दुर्बल हूँ" इस प्रकार के भाव हमारे हृदयों में से जितने अधिक दूर हो जायँ, उतना ही श्रेयस्कर है। सभी प्राणियों में सर्वशक्तिमान् भगवान् विद्यमान हैं। हम भगवान् के अश हैं, भगवान् की सन्तान हैं, फिर भी हम दुर्बल हैं? उस अनन्तशक्तिमान् भगवान् से हम लोगों को शक्ति मिल रही है, फिर भी हम पापी हैं? अत अपने को पापी तथा दुर्बल समझना ही सबसे अधिक पाप है। यह तो अविश्वासी नास्तिकों का कार्य है। यदि कुछ विश्वास करना हो तो यह विश्वास करो कि तुम उनकी सन्तान हो, उनके अश हो, उनकी अनन्त शक्ति तथा असीम आनन्द के तुम अधिकारी हो। विश्वास करो कि तुम्हारे शरीर और मन पवित्र देव-मन्दिर हैं, जहाँ शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव भगवान् चिर-प्रतिष्ठित हैं। विश्वास करो कि प्रत्येक नरनारी, वृक्ष-लता तथा जड़-चेतन में भी वे ही विद्यमान हैं, समग्र ब्रह्माण्ड में उनके सिवा और कोई भी नहीं है। आकाश की नीलिमा में, समुद्र की तरङ्गों में, नारियों की मुख-कान्ति में, बालकों की सरलता में, श्मशान-भूमि की करालता में तथा योगियों की निस्पन्दता में उन्हीं के प्रकाश को देखने की चेष्टा करो। यही तो एक प्रकार की साधना है।

गीता के दशम अध्याय में यह भाव स्पष्टतया देखने को मिलता है। अर्जुन ने भगवान् से प्रश्न किया कि इन्द्रियादि तो काम-काचन में मोहित हैं, उनके ही आकर्षण से मनुष्य रूपरसादि विषयों के पीछे

दौड़ रहा है, साथ ही मृत्यु पर्यन्त मानव को जागतिक व्यापारों में ही फँसा रहना पड़ेगा, अतः उसके लिए बचने का उपाय क्या है? भगवान् ने उत्तर दिया—

"यद् यद्विभूतिमत्सत्व श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोंऽशसम्भवम्॥"

'जो कुछ भी श्रेष्ठ तथा सुन्दर है, वह सब मेरे तेज का अश है।' चन्द्र, सूर्य, पशु, पक्षी तथा जगत्-विमोहिनी नारी-मूर्ति में जो भी कुछ सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है, वह उन्हीं के तेज का अंश है। इन सब मूर्तियों में से उनकी ही ज्योति प्रकट हो रही है। वास्तव में मनुष्य इनके यथार्थ स्वरूप का निर्णय नहीं कर पाता, इसीलिए विषय की ओर आकृष्ट होता है। भगवान् गीता में फिर कह रहे हैं—

"अथवा बहुनैतेन कि ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिद कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥"

'हे अर्जुन, मैं अपनी विभूतियों के बारे में और कितना कहूँ, अपने एकांश के द्वारा मैं ही इस ब्रह्माण्ड-रूप में परिणत हूँ।' भगवान् श्रीकृष्ण की यह अमृतमयी वाणी क्या हमें यह नहीं बतला रही है कि अपने को तथा दूसरों को कभी भी पापी नहीं समझना चाहिए? इसके द्वारा क्या हमें यह शिक्षा नहीं मिल रही है कि मनुष्य को देवता समझो, उसको भगवान् की साक्षात् मूर्ति मानो? स्वयं इस बात की शिक्षा लो तथा सन्तान-सन्तति एव अपने पडोसियों को भी सिखाओ। हम कहते कुछ हैं और करते कुछ और ही हैं।

मन और वाणी को एक किए बिना चाहे सारी रात हरिकीर्तन करो या सभा ही करो, वास्तव में उससे कुछ भी नहीं होगा। हम देख रहे हैं कि इस समय तो घर घर हरिसभा की धूम मची हुई है, किन्तु कुछ दिन बाद लोग फिर उसमें सम्मिलित तक नहीं होना चाहते।

इसका क्या कारण है? कारण यह है कि हमारे मन और वाणी में एकता नहीं है। मन और वाणी में एकता स्थापन करना ही धर्म की प्रथम साधना है। परमहंसदेव कहा करते थे, "मन और वाणी को एक करना ही मुख्य साधना है।" ऐसे व्यक्ति कहाँ हैं जिन्होंने मन और वाणी को एक किया हो? ढूँढ़ने पर हज़ारों में ऐसे व्यक्ति कितने मिलते हैं? प्रत्येक कार्य में ही यह देखा जाता है कि मन में तो कुछ और है तथा वाणी में कुछ और। छोटा सा काम तो हम कर नहीं पाते, किन्तु बड़े काम के पीछे दौड़ते हैं। सामने के प्यासे को तो हम जल तक नहीं दे सकते, किन्तु सभाएँ करने, हरि-प्रेम में सबको विभोर करने या समस्त अभावों को मिटाकर देशोद्धार करने चल देते हैं। मन और वाणी की विपरीत गति का दृष्टान्त सुनिए। 'दुर्गा-सप्तशती' में कहा गया है—

"विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।"

हे देवि, जितनी विद्याएँ हैं, वे सब तुम्हारी ही शक्ति के विकास मात्र हैं और जगत् में जितनी नारी मूर्तियाँ हैं, वे सब तुम्हारी ही मूर्ति हैं? हम सभी दुर्गा-सप्तशती का पाठ किया करते हैं, परन्तु हममें कितने ऐसे व्यक्ति हैं जो कि स्त्रियों को देवी-प्रतिमा मानते हों? कितने ही लोग एक ओर तो सप्तशती का पाठ करते हैं, और फिर पाठ समाप्त

करने के पश्चात् छोटी सी बात को लेकर अपनी पत्नी पर प्रहार तक करने में नहीं सहमते। स्त्रियों को देवी की मूर्ति समझकर सम्मान तथा पूजा करने के बदले लोगों ने तो उनको सन्तान-प्रसव तथा रसोई इत्यादि बनाने का यन्त्रविशेष मान रखा है।

वैदिक युग में कितनी ही महिलाओं की गणना ऋषियों में की जाती थी। बृहदारण्यक उपनिषद् में हम देखते हैं कि राजा जनक की सभा में गार्गी नाम की एक सन्यासिनी महर्षि याज्ञवल्क्य से धर्म-विषयक कितने ही गम्भीर प्रश्न कर रही है। लीला, खना इत्यादि और भी अनेक विदुषी स्त्रियों के चरित्रों को हम सभी जानते हैं।

थोड़े दिनों की ही बात है, अहिल्याबाई के अद्भुत जीवन से प्रायः सभी लोग परिचित हैं। वे स्वय राज्य का शासन करती थीं। सभी प्रसिद्ध तीर्थों में उनकी कीर्ति आज भी विद्यमान है। यहाँ तक कि निर्जन पहाड़ों में भी तीर्थ-यात्रियों की सुविधा के लिए उनका बनवाया हुआ मार्ग अभी तक इसका परिचय प्रदान कर रहा है। जिनमें जगज्जननी की अपूर्व शक्ति निहित है, उनको हमने दासीमात्र बना रखा है। पूजन आदि के समय केवल एक बार हम पाठ कर लिया करते है कि सभी स्त्रियाँ माता भगवती की मूर्ति हैं।

और भी देखिए, हमारे शास्त्रों में वर्णित है तथा हम भी प्रायः कहा करते हैं कि मनुष्यमात्र नारायण की मूर्ति हैं, किन्तु व्यवहार में हम क्या करते हैं? किसी मेहतर या नीच जाति के व्यक्ति को देखकर हम उससे पशु से भी अधिक घृणा करने में सकुचित तक नहीं होते। मनुष्य की अपेक्षा जानवरों को जो अधिक सम्मान

देते हैं, उनकी बुद्धि या धारणा कहाँ तक और आगे बढ़ सकती है? शास्त्र-विश्वासी होने पर हमारा कर्तव्य है कि हम कभी अपने को दुर्बल न समझें तथा दूसरों की नारायण-ज्ञान से पूजा करें। हमें यह समझना आवश्यक है कि हम भगवान् के अंश हैं, उनकी सन्तान हैं; सभी शरीर, चाहे वे अपने हों या और किसी के; उनके मन्दिर हैं। जैसे हिमालय से गंगा की समग्र जलराशि निकल रही है, वैसे ही सर्वशक्तिमान् भगवान् से हमें सारी शक्ति मिल रही है। इस प्रकार के दृढ विश्वास के द्वारा ही हमारी क्रमोन्नति हो सकती है। संसार में जहाँ कहीं भी ज्ञान की चर्चा हुई है, वहीं लोगों ने समझा है कि मनुष्य में अनन्त शक्ति निहित है। सत्कार्य के लिए प्रयत्न अथवा दूसरों के उपकारार्थ किसी प्रकार की चेष्टा करने के लिए कहने पर बहुधा यह उत्तर मिलता है कि अपने पास रुपये कहाँ हैं, बिना रुपये के क्या कोई कार्य हो सकता है? अरे मूर्ख, कहो कि हममें मनुष्यत्व नहीं है, मनुष्यत्व रहने पर क्या कभी पैसे का अभाव हो सकता है? अर्थ से कभी मनुष्यत्व की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु मनुष्यत्व होने पर बहुत पैसा कमाया जा सकता है। आज से दुर्बलताओं को त्याग कर मनुष्य बनने की चेष्टा करो। अपने को दुर्बल समझने से अन्तर्निहित भगवत्-शक्ति का विकास न होकर उसका संकोच ही होता जायेगा। यह विश्वास रखो कि तुममें अनन्त शक्ति निहित है, सु-कर्म तथा सत्-चिन्ता के द्वारा उस शक्ति का विकास करो।

अतः अपने को दुर्बल न समझना तथा सब प्रकार की दुर्बलताओं

से दूर रहना ही हमारे लिए प्रथम साधना है। दूसरी साधना है— मन और वाणी को एक करना। गीता में विशेष विशेष अधिकारी के लिए विशेष विशेष साधनाओं के उपदेश देने से पहिले सभी अवस्थाओं में सबके लिये उपयोगी इन दोनों साधनाओं का ही उपदेश देखने में आता है।

विपक्षी सेना में आत्मीयवर्ग तथा भीष्म, द्रोण इत्यादि प्रतिद्वन्द्वियों को देखकर रणक्षेत्र में अर्जुन का मन एक साथ शोक, दुःख, मोह तथा भय से विह्वल हो उठा था। किन्तु भय, मोह इत्यादि भावों को छिपा-कर अर्जुन श्रीकृष्ण से कह रहे हैं कि सामान्य राज्य के लिए आत्मीय-वर्ग की हिंसा करने की अपेक्षा भिक्षान्न के द्वारा जीवन धारण करना ही श्रेयस्कर है। पहिले तो वे क्षत्रिय धर्म के अनुसार अन्याय-अत्याचारों के विरुद्ध कर्तव्य-बुद्धि से युद्ध करने को उपस्थित हुए थे, किन्तु युद्धक्षेत्र में आत्मीयवर्ग तथा महान् वीरों को प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखकर मोह तथा भय से उस कर्तव्य को भूलकर मुँह से धर्म के बहाने नाना प्रकार के असम्बद्ध वाक्य कहने लगे। किन्तु किसके आगे वे अपने मन के भावों को छिपाना चाहते हैं? भगवान् तो अन्तर्यामी हैं। उन्होंने कहा—

"क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥"

'हे अर्जुन, तुम जैसे व्यक्ति के लिए ऐसी दुर्बलता शोभा नहीं देती। हृदय की इस दुर्बलता को त्यागकर तुम उठो।' दुर्बलता से ही सब प्रकार की नीचता आकर उपस्थित होती है, यही पापों का

मूल है। केवल अर्थकरी विद्या से लाभ ही क्या हो सकता है ? जिसके द्वारा छोटे-बड़े सभी के शरीर तथा मन सबल बनें, तदर्थ प्रयत्न करना ही यथार्थ शिक्षा है।

मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि धर्म-लाभ करने के चार मार्ग हैं। विचारपूर्वक देखने पर पता चलता है कि ये चारों ही मार्ग मानव को एक ही स्थान में ले जाते हैं। वेद, पुराण, तन्त्र इत्यादि के अध्ययन से यही देखने में आता है कि सभी का उद्देश्य एक है, किन्तु उसकी प्राप्ति के पथ अलग अलग हैं, तथा जितने पथ उतने ही मत हैं। हमारे नित्य-पाठ्य 'महिम्नस्तव' में यह भाव एक श्लोक में निबद्ध है।—

> "त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
> प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
> रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्
> नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥"

'हे भगवन्, वेद, सांख्य, योग, शैव तथा वैष्णव इत्यादि मत भिन्न भिन्न होने पर भी तुम्हारे समीप पहुँचने के लिए पृथक् पृथक् पथ मात्र हैं। लोग अपनी रुचि के अनुसार सरल या जटिल चाहे जिस मार्ग का ही अवलम्बन क्यों न करें, किन्तु सभी के गन्तव्यस्थल एक-मात्र तुम्हीं हो।' परमहंसदेव कहा करते थे, "जैसे कालीघाट पहुँ-चने के अनेक मार्ग हैं, वैसे ही विभिन्न मत भगवान् के समीप पहुँचने के भिन्न भिन्न पथ मात्र हैं।" विभिन्न संस्कार-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न मत तथा साधना-प्रणालियाँ शास्त्रों में वर्णित हैं। इसलिए भिन्न

भिन्न मत आपातविरोधी प्रतीत होने पर भी उनमें कोई वास्तविक विरोध नहीं है, क्योंकि सभी का गन्तव्यस्थल या लक्ष्य एक ही है।

भगवत्पादपद्मों के दर्शन से सफलमनोरथ महापुरुषों की जैसी दशा या अनुभूति होती है, उसे अपनाने या उस प्रकार बनने के प्रयास का ही नाम साधना है। सिद्ध पुरुषों के लक्षण के विषय में भगवान् ने गीता में कहा है—

"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥"

'मन की सारी कामनाओं को त्यागकर जो केवल आत्मा या भगवान् को लेकर ही सन्तुष्ट रह सकते हैं, सुख-दुःख अथवा शरीर-मन विषयक नाना प्रकार के दैनिक परिवर्तन जिनको विचलित नहीं कर सकते, वे ही स्थिर-बुद्धि तथा मुक्त हैं।' जैसे श्वास-प्रश्वास लेने में हमें किसी प्रकार का कष्ट अनुभव नहीं होता, वैसे ही काम-काञ्चन को त्यागने के लिए उन्हें किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता। उनके शरीर तथा इन्द्रियादि इस प्रकार गठित हो जाते हैं कि उन्हें फिर कभी वे विपथगामी नहीं होने देते। सिद्धपुरुषों के लक्षण या उनकी सिद्धि के विषय में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अभी हमारे लिए सिद्धि-लाभ बहुत दूर है। जितने प्रकार की साधना या उपायों के द्वारा भगवत्प्राप्ति हो सकती है, अब तो उनका स्वरूप-ज्ञान तथा उनमें से किसी एक का अवलम्बन कर अपने जीवन का निर्माण ही हमारे लिए आवश्यक है।

पहिले शास्त्रीय सत्य को इस प्रकार गुप्त रखा जाता था कि जिससे

सर्वसाधारण उसका अध्ययन न कर सके। इसके द्वारा पुरोहितों का आधिपत्य तो अटूट बना रहा, किन्तु विद्याविहीन होने के कारण जातीय जीवन की अत्यन्त अवनति हुई। पुरोहितों ने अपने समर्थन में यह कारण दर्शाया कि योग्य अधिकारी बनने से पहिले मनुष्य को सब सत्य बतला देने पर, उन विषयों में यथार्थ ज्ञान न रहने के कारण, बहुधा विपरीत फल होने लगता है, जैसे कि वेदान्त को ठीक रूप से न समझने के फलस्वरूप प्रायः नास्तिकभाव उपस्थित होकर मनुष्य को अधिक मात्रा में विषय-परायण बना देता है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जब तुममें अधिकारी पहचानने की शक्ति ही नहीं है, तब फिर सभी को अध्ययन तथा आलोचना करने का अधिकार दो; स्वय वे ही अपने उपयोगी मार्ग को चुन लेंगे। आजकल सभी शास्त्र मुद्रित हो रहे हैं, अब तो छिपाने की चेष्टा ही निरर्थक है।

अब हम यह देखेंगे कि ज्ञानी, भक्त, योगी तथा कर्मी ये चार प्रकार के साधक किन किन प्रधान साधनाओं की सहायता से अन्त में एक ही स्थान में पहुँचते हैं। सत्-असत् विचार के द्वारा ज्ञानी अनित्य विषय-वासनाओं को त्याग कर अपने में जो नित्य वस्तु है, उसके अन्वेषण में नियुक्त रहते हैं तथा उसी वस्तु को यथार्थ 'अहं' रूप से निरूपण करते हैं। शरीर-मन में आबद्ध, विषय-वासनायुक्त तुच्छ 'अहं' का विनाश कर अपने को उस महान् 'अहं' में परिणत करना ही उनका लक्ष्य है। 'नेति नेति' विचार तथा अपने स्वरूप का चिन्तन ही ज्ञानी की साधना है। ज्ञानी कहते हैं कि विचार के द्वारा जो भी कुछ अनित्य ठहरे, तत्काल ही उसे त्याग दो। इस प्रकार देखोगे

उन पर सम्पूर्ण निर्भर करने से, एक बार उनके बन जाने से स्वार्थपूर्ण 'अहं' का नाश होकर तत्क्षण ही आत्मदर्शन हो जाता है।

कर्मी कहते हैं कि भगवान् के लिए कर्मों का अनुष्ठान करो और फल भी उन्हें अर्पण कर दो। अपने स्वार्थ के लिए कर्म न करो, स्वार्थ ही मृत्यु है। निरन्तर कर्म करो, किन्तु कर्मफल में आसक्ति न लाओ। उपासना तथा साधना के रूप में कर्मों का अनुष्ठान करो। धन, मान तथा यश के लिए कर्म का अनुष्ठान न करो। उस विराट पुरुष की सेवा के लिए कर्म करो। वे ही संसार में विभिन्न रूप से खेल रहे हैं। अपने द्वारा किञ्चिन्मात्र भी उनकी सेवा होने पर अपने को धन्य समझो। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार कर्म करने से क्रमशः स्वार्थ विनष्ट होकर आत्मा का विकास होगा।

चार प्रकार के लोगों के लिए चार तरह की साधनाएँ बतलाई गई हैं, किन्तु स्वार्थमय 'अहं' का विनाश करना ही सभी का एकमात्र उद्देश्य है। विचारपूर्वक देखने पर इनमें विरोध केवल बातों का ही है। वास्तविक कोई भी विरोध नहीं है, स्वार्थमय 'अहं' के दूर होने से ही मुक्ति होती है। परमहंसदेव कहा करते थे, "मुक्ति तब होगी, जब 'अहं' दूर होगा।" "जीव पाशबद्ध है और शिव पाशमुक्त हैं।" (जीव बन्धनयुक्त है तथा शिव बन्धनमुक्त हैं।) जब अविद्या का 'अहं' दूर हो जायेगा, तभी शिवत्व की प्राप्ति तथा मुक्ति होगी। परमहंसदेव कहा करते थे, "जैसे लोग जल के भिन्न भिन्न नाम लेते हैं, वैसे ही एक भगवान् को ही लोग अलग अलग नाम से पुकारते हैं।"

ये ही मुख्य मुख्य साधनाओं की बातें हैं। जीवन-गठन तथा लक्ष्यस्थल में पहुँचने के लिए इनकी नितान्त आवश्यकता है। मन और वाणी को एक कर जिसकी जिसमें रुचि हो, उसे ही ग्रहण करो तथा आज से अपने जीवन-गठन में दृढनिश्चयी बनो। जो कुछ और आवश्यक है, उसे वे ही लाकर उपस्थित कर देंगे।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

मन और वाणी को एक कर उनके शरणापन्न होने से दुर्बलता, पाप आदि कुछ भी नहीं रह पाते। वे ही सर्वरक्षक बन जाते हैं। भगवान् से यही प्रार्थना है कि 'उनके नाम के प्रताप से ही हमारी सारी दुर्बलताएँ तथा समस्त पाप चिरकाल के लिए दूर हो गए हैं' यह विश्वास आज से हमारा सहायक बने।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

नवम अध्याय

वेदचर्चा

(रामकृष्ण मिशन सभा रविवार, ७ अगस्त, १८९८ ई)

इस सभा में वेदादि के विषय में जो चर्चाएँ की जायेंगी, उन्हें वार्तालाप के रूप मे रखूँगा, वक्तृता की भाषा में कहने से वक्ता तथा श्रोता के बीच व्यवधान का अनुभव होगा। हम यह सोचेंगे कि हम सब यहाँ पर धर्मशिक्षा के लिए एकत्रित हुए हैं एव आपस के सन्देहों को प्रश्नों के द्वारा विचारपूर्वक मीमांसा कर सत्य को प्राप्त करेंगे। महापुरुषों के धर्मजीवन की आलोचना के द्वारा वेदोक्त धर्मादि सहज ही में उपलब्ध होते हैं, इसलिए वह भी हम लोगों का आलोच्य-विषय होगा। अन्यान्य महापुरुषों के अस्तित्व अथवा पुराणवर्णित चरित्रों के सम्बन्ध में शंकाएँ रहने पर भी श्रीरामकृष्णदेव के जीवन के विषय में उस प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि उनको हमने साक्षात् देखा है। अत. उनके चरित्र में वेदान्तोक्त धर्म किस रूप में तथा किस प्रकार प्रकाशित हुआ है, इसकी भी साथ साथ हम आलोचना करेंगे। पहिले वृहदारण्यक उपनिषद् से कुछ कहता हूँ—

किसी समय मिथिला के राजा जनक विदेह ने एक यज्ञानुष्ठान किया, इसी मिथिला-राजवंश के किसी राजा ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त

किया था, इसलिए उनके वंशजों को 'विदेह' कहा जाता था। इस यज्ञ में अनेक वेदज्ञ ब्राह्मण उपस्थित थे। राजा जनक ने एक हजार गायें दक्षिणा में देने का संकल्प कर और उनके सींगों को सोने से मढ़वाकर कहा, "आप लोगों में जो श्रेष्ठ हों, वे ही इन गायों को ग्रहण करें।" कोई भी अग्रसर नहीं हुआ। किसी को अग्रसर होते न देखकर अन्त में ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों से कहा, "तुम इनको मेरे लिए ग्रहण करो।" यह सुनकर अन्यान्य ब्राह्मण बोले, "किस बात में वे हमसे श्रेष्ठ हैं, पहिले इसका विचार कर लिया जाय; यदि वे हमसे कुछ अधिक जानते हों तभी उनको ये गायें दी जायँ।" ऐसा निश्चय होने पर गार्गी नाम की एक महिला सभा में खड़े होकर याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने लगीं। विभिन्न विषयों में यथार्थ उत्तर प्रदान करने के बाद याज्ञवल्क्य ने उनको रोका तथा अन्यान्य ब्राह्मणों के साथ उन्होंने विचार प्रारम्भ किया। अन्त में गार्गी फिर बोलीं, "मैं और दो प्रश्न करना चाहती हूँ, यदि याज्ञवल्क्य इनके उत्तर दे सकें, तो समझूँगी कि इन्हें कोई भी हरा नहीं सकता। पहिला प्रश्न यह है कि जिनके द्वारा ये सारी वस्तुएँ व्याप्त हैं तथा दूसरा — वे कौन हैं?" याज्ञवल्क्य द्वारा इन दोनों प्रश्नों के उत्तर दिए जाने पर गार्गी बोलीं, "हे ब्राह्मणगण, आप इनको परास्त नहीं कर सकते; क्योंकि इन्होंने ब्रह्म को जान लिया है। इनके लिए जानने को और कुछ भी अवशिष्ट नहीं है।"

हमने देखा कि वेदोक्त ब्रह्म को जान लेने पर लोग सर्वज्ञ बन जाते हैं। अब देखना चाहिए कि वेद किसे कहते हैं। वेद का अर्थ

है ज्ञान — वह ज्ञान जिसकी प्राप्ति से जगत् के समस्त विषय जाने जा सकते हैं। जिस प्रकार मिट्टी क्या है, इसका ज्ञान होने पर मिट्टी के बने हुए सकोरों, घटों इत्यादि समस्त वस्तुओं का ही ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार जिस ज्ञान को प्राप्त करने पर सृष्टि के अन्तर्गत समस्त पदार्थों को जाना जा सकता है और जानने के लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता, उस ज्ञान को ही वेद कहा जाता है। इस ज्ञान को कौन प्राप्त कर सकता है? वेद का अधिकारी कौन है? शास्त्र ने केवल द्विजमात्र को ही अधिकारी बतलाया है। गुण एवं जाति दोनों के द्वारा ही द्विजत्व की प्राप्ति होती है, यह बात गीता तथा महाभारतादि शास्त्रों में वर्णित है। शंकराचार्य आदि ने भी ऐसा ही निर्देश किया है। पिता के गुण स्वभावतः ही पुत्र में संक्रमित होने के कारण क्रमशः गुण जातिगत हो जाते हैं, किन्तु अति प्राचीन काल में द्विजत्व केवल गुणगत ही माना जाता था ऐसा प्रतीत होता है। सत्यकाम जाबालि की आख्यायिका इसका प्रमाण है। वेदपाठ के लिए उपस्थित होने पर उनके गुरुजी ने उनसे पिता का नाम पूछा, पर वे अपने पिता का नाम नहीं बतला सके। माता के समीप आकर पूछने पर माता ने कहा कि यौवनावस्था में उन्होंने एक एक करके बहुतों को पतिरूपेण वरण किया; अतः सत्यकाम किसका पुत्र है, यह वे भी नहीं जानतीं। गुरुजी से आकर सत्यकाम ने वैसा ही कहा। गुरुजी बोले, "घृणित तथा निन्दित बनने की सम्भावना को देखकर भी पूछे जाने पर जो अपना इस प्रकार का जन्म-वृत्तान्त सबके सामने निष्कपट भाव से कह सकता है, वह महासत्यनिष्ठ है, एव सत्यनिष्ठा

ही ब्राह्मण का प्रधान गुण है; अतः तुम्हारे अन्दर में ब्राह्मण का ही लक्षण पाता हूँ, अवश्य ही मैं तुमको वेद पढ़ाऊँगा।" इतना कहकर उनका यज्ञोपवीत-संस्कार कर उन्होंने उनको वेदाभ्यास कराया। ये सत्यकाम ही अनन्तर एक प्रवीण आचार्य बने थे।

अब तो ब्राह्मणत्व जातिगत ही रह गया है। गुण हो या न हो, ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण ही होगा, किन्तु वैदिक काल में गुण के द्वारा ही ब्राह्मणत्व का निर्णय हुआ करता था। अतः शास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार हम ब्राह्मणत्व-गुणसम्पन्न व्यक्ति को ही वेदाध्ययन का अधिकारी मानेंगे। जिसमें ब्राह्मण के गुण विद्यमान हैं, वही वेद-पाठ का अधिकारी है। साथ ही वेद में हम देखते हैं कि सभी को वेदोक्त धर्म का उपदेश दिया जा सकता है। शास्त्र-सिद्धान्त के अनुसार यह वेद अनादि है, ज्ञानरूप से ब्रह्म के साथ यह अनादि काल से अवस्थित है। यह वेदोक्त — विशेष रूप से उपनिषदोक्त — ज्ञान जिनके हृदय में प्रकाशित होता है, वे इसके आविष्कर्ता ऋषि मात्र माने जाते हैं। प्रत्येक वेद-मन्त्र के ऋषि तथा देवता हैं। जिस विषय का ज्ञान आविर्भूत होता है, उसे देवता कहा जाता है तथा जिनको आश्रय कर वह ज्ञान आविर्भूत होता है, उन्हें ऋषि कहते हैं।

वेद दो भागों में विभक्त हैं — कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। दर्शन-कार जैमिनी ने कर्मकाण्ड-मीमांसा में कहा है, 'अथातो धर्म-जिज्ञासा' अर्थात् इसके अनन्तर धर्म-जिज्ञासा करनी चाहिए। किसके अनन्तर? नियमपूर्वक वेदाध्ययनादि के पश्चात् फिर धर्म-जिज्ञासा करनी चाहिए। कर्मकाण्ड में भी परोपकार, सत्यवादिता नितान्त आवश्यक हैं, किन्तु ये सब

सत्य के लिए अनुष्ठित न होकर स्वर्गादि या अन्य किसी वासना को लेकर ही किए जाते हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के सभी कार्य सकाम हैं। अतः वैदिक कर्मकाण्ड या जैमिनिप्रणीत पूर्व-मीमांसा के अध्ययन के समय, कर्म शब्द को वर्तमान शिक्षानुसार, 'जो भी कुछ किया जाय वही कर्म है' (any thing done) इस प्रकार समझना भूल है। वेद का दूसरा विभाग ज्ञानकाण्ड है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी माना है कि हमारे आपेक्षिक ज्ञान से पृथक् एक और अपरोक्ष ज्ञान है। ज्ञात विषयों से बहिर्भूत एक अज्ञात पदार्थ विद्यमान है जो कि देश-काल से अपरिच्छिन्न है, किन्तु न हम उसे जान ही सकते हैं और न उसे समझ ही पाते हैं। वेदान्त भी कहता है कि वह ज्ञान हमारे मन-वाणी के अगोचर है, किन्तु अपरिज्ञेय होने पर भी हम उसे प्राप्त कर सकते हैं, उसके साथ एकीभूत हो सकते हैं। व्याससूत्र या उत्तर-मीमांसा में ज्ञानकाण्ड या उपनिषदों के श्लोकों का तात्पर्य सूत्राकार में ग्रथित है, एव उपनिषदों में कोई भी विरुद्ध भाव नहीं है तथा समस्त उपनिषदों का मर्म एक ही है, इसी की मीमांसा उसमें की गई है। जैमिनिदर्शन की तरह उसका भी प्रारम्भ 'अथातो' शब्द से ही किया गया है। उसमें प्रयुक्त 'अथ' शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हो सकता है। एक तो मगलवाचक शब्द के रूप में और दूसरा 'अनन्तर' के अर्थ में। किसके अनन्तर? कर्मकाण्ड के अनन्तर तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ज्ञान कभी कर्म से उत्पन्न नहीं हो सकता, कर्म तो कर्म का ही उत्पादक है। अतः आचार्य शकर ने इसका अर्थ 'साधन-चतुष्टय के अनन्तर' माना है।

ये साधन-चतुष्टय क्या हैं? प्रथम—'नित्यानित्यवस्तुविवेक' अर्थात् ज्ञान-विचार के द्वारा क्या नित्य है और क्या अनित्य, इसका निश्चय करना होगा। बहुत से लोग ज्ञान को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखते हैं। सच है, ज्ञान-विचार तो उस नित्य वस्तु को साक्षात् दिखा नहीं सकता, फिर भी इसकी कोई उपयोगिता नहीं है, ऐसा कहना अत्यन्त भ्रम है। इस प्रकार के ज्ञान-विचार के द्वारा ही तो पाश्चात्य विद्वानों ने यह अनुभव किया है कि अज्ञेय, देश-काल से अपरिच्छिन्न कोई वस्तु (Unknown) विद्यमान है। वह निश्चित रूप से विद्यमान है, इस बात को भी तो उन्होंने इसी की सहायता से जाना है। उसकी विद्यमानता का जिसे निश्चित विश्वास है, उसके लिए उस परम वस्तु को प्राप्त करने में और अधिक विलम्ब नहीं है। द्वितीय—'इहामुत्रफलभोगविराग' अर्थात् इस लोक का सुख तथा परलोक में प्राप्य स्वर्गादि सुख, दोनों में ही वैराग्य लाना आवश्यक है। तृतीय—'शमदमादिषट्सम्पत्ति;' शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा तथा समाधान, ये छः साधन हैं। (१) शम—अन्तरेन्द्रिय का दमन, मन में कितने ही प्रकार की वासनाएँ उठ रही हैं, कितने ही प्रकार के चंचल भाव उपस्थित हो रहे हैं, इनको दमन करना ही शम है। सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य ही मुख्य साधन है, जिस व्यक्ति में इसका अभाव है, उसकी सम्पूर्ण शक्ति खर्च हो जाती है। मन अनन्त शक्तियों का आधार है। संयम के द्वारा इन शक्तियों का क्रमशः विकास होता रहता है। हम लोगों में अनन्त शक्ति निहित है, इस शक्ति का विकास होने पर हम प्रायः सर्वशक्तिमान् बन सकते हैं। पहले के अवतारों और महापुरुषों ने यह

सत्य के लिए अनुष्ठित न होकर स्वर्गादि या अन्य किसी वासना को लेकर ही किए जाते हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के सभी कार्य सकाम हैं। अतः वैदिक कर्मकाण्ड या जैमिनिप्रणीत पूर्व-मीमांसा के अध्ययन के समय, कर्म शब्द को वर्तमान शिक्षानुसार, 'जो भी कुछ किया जाय वही कर्म है' (any thing done) इस प्रकार समझना भूल है। वेद का दूसरा विभाग ज्ञानकाण्ड है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी माना है कि हमारे आपेक्षिक ज्ञान से पृथक् एक और अपरोक्ष ज्ञान है। ज्ञात विषयों से बहिर्भूत एक अज्ञात पदार्थ विद्यमान है जो कि देश-काल से अपरिच्छिन्न है, किन्तु न हम उसे जान ही सकते हैं और न उसे समझ ही पाते हैं। वेदान्त भी कहता है कि वह ज्ञान हमारे मन-वाणी के अगोचर है, किन्तु अपरिज्ञेय होने पर भी हम उसे प्राप्त कर सकते हैं, उसके साथ एकीभूत हो सकते हैं। व्याससूत्र या उत्तर-मीमासा में ज्ञानकाण्ड या उपनिषदों के श्लोकों का तात्पर्य सूत्राकार में ग्रथित है, एव उपनिषदों में कोई भी विरुद्ध भाव नहीं है तथा समस्त उपनिषदों का मर्म एक ही है, इसी की मीमांसा उसमें की गई है। जैमिनिदर्शन की तरह उसका भी प्रारम्भ 'अथातो' शब्द से ही किया गया है। उसमें प्रयुक्त 'अथ' शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हो सकता है। एक तो मगलवाचक शब्द के रूप में और दूसरा 'अनन्तर' के अर्थ में। किसके अनन्तर? कर्मकाण्ड के अनन्तर तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ज्ञान कभी कर्म से उत्पन्न नहीं हो सकता, कर्म तो कर्म का ही उत्पादक है। अतः आचार्य शकर ने इसका अर्थ 'साधन-चतुष्टय के अनन्तर' माना है।

ये साधन-चतुष्टय क्या हैं? प्रथम—'नित्यानित्यवस्तुविवेक' अर्थात् ज्ञान-विचार के द्वारा क्या नित्य है और क्या अनित्य, इसका निश्चय करना होगा। बहुत से लोग ज्ञान को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखते हैं। सच है, ज्ञान-विचार तो उस नित्य वस्तु को साक्षात् दिखा नहीं सकता, फिर भी इसकी कोई उपयोगिता नहीं है, ऐसा कहना अत्यन्त भ्रम है। इस प्रकार के ज्ञान-विचार के द्वारा ही तो पाश्चात्य विद्वानों ने यह अनुभव किया है कि अज्ञेय, देश-काल से अपरिच्छिन्न कोई वस्तु (Unknown) विद्यमान है। वह निश्चित रूप से विद्यमान है, इस बात को भी तो उन्होंने इसी की सहायता से जाना है। उसकी विद्यमानता का जिसे निश्चित विश्वास है, उसके लिए उस परम वस्तु को प्राप्त करने में और अधिक विलम्ब नहीं है। द्वितीय—'इहामुत्रफलभोगविराग' अर्थात् इस लोक का सुख तथा परलोक में प्राप्य स्वर्गादि सुख, दोनों में ही वैराग्य लाना आवश्यक है। तृतीय—'शमदमादिषट्सम्पत्ति;' शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा तथा समाधान, ये छः साधन हैं। (१) शम— अन्तरेन्द्रिय का दमन; मन में कितने ही प्रकार की वासनाएँ उठ रही हैं, कितने ही प्रकार के चंचल भाव उपस्थित हो रहे हैं, इनको दमन करना ही शम है। सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य ही मुख्य साधन है, जिस व्यक्ति में इसका अभाव है, उसकी सम्पूर्ण शक्ति खर्च हो जाती है। मन अनन्त शक्तियों का आधार है। संयम के द्वारा इन शक्तियों का क्रमशः विकास होता रहता है। हम लोगों में अनन्त शक्ति निहित है, इस शक्ति का विकास होने पर हम प्रायः सर्व-शक्तिमान् बन सकते हैं। पहले के अवतारों और महापुरुषों ने यह

सिद्ध कर दिया है कि यदि हम भी चाहें तथा चेष्टा करें तो उनके प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर उन्हीं के सदृश शक्ति तथा ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। यदि ऐसा न हो, तो अवतारों के आविर्भाव की आवश्यकता ही क्या है? हमें क्या करना चाहिए तथा किस प्रकार से उन कार्यों को करना चाहिए, अवतारादि महापुरुष अपने जीवन के द्वारा यही तो हमें दिखा जाते हैं। वे हमारे लिए एक नवीन आदर्श रख जाते हैं, जिससे कि हम उस आदर्श के अनुयायी बन सकें। बहुत से लोग यह समझते हैं कि विवाहादि हो जाने पर गृहस्थ बनने के बाद इन्द्रिय-संयम असम्भव है। यह नितान्त भूल है। इच्छा रहने पर गृहस्थ भी संयमी बन सकते हैं। श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे कि मन और वाणी में एकता लाने से सब कुछ सम्भव है। पहिले मन और वाणी में एकता तो स्थापन करो, फिर इन्द्रिय-संयमादि सब कुछ तुम्हारे वश में आ जायेंगे। मेरे एक पाश्चात्य मित्र हैं, वे इंजिनीयर हैं। कल-कारखानेविषयक किसी प्रकार का नवीन आविष्कार वे पहिले नहीं कर पाते थे। जितना अध्ययन था, केवल उससे ही काम लेते थे। गत चार वर्षों से उन्होंने अपनी धर्मपत्नी के साथ शारीरिक सम्बन्ध का परित्याग कर दिया है और इसके परिणाम-स्वरूप हाल में वे एक विख्यात यन्त्राविष्कारक बन चुके हैं। उन्होंने मुझसे कहा है कि अब किसी विषय का चिन्तन करने पर उस विषय का एक विस्तृत चित्र उनके मन के सामने आ जाता है, उस चित्र में वे सब कुछ देख पाते हैं। ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान का फल ऐसा ही होता है। ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण ही तो हमारी इतनी

दुर्दशा हुई है। (२) दम—बाह्येन्द्रियों का दमन; हाथ, पाँव तथा चक्षु इत्यादि को अपने वश में लाना पड़ेगा। (३) तितिक्षा—इसका अर्थ है सहन करना। जो जिस मात्रा में सुख-दुःख, शीतोष्ण इत्यादि सहन कर सकता है, उसे तदनुसार सहन करना चाहिए। (४) उपरति अर्थात् रूपरसादिविशिष्ट बाह्य वस्तुओं से मन को हटाकर इच्छाशक्ति के द्वारा उसे अन्तर्मुख बनाना। (५) श्रद्धा अर्थात् वेदशास्त्र तथा गुरुवाक्य में सुदृढ़ विश्वास रखना। (६) समाधान—ईश्वर के विषय में चित्त की एकाग्रता प्राप्त करना। चतुर्थ—'मुमुक्षुत्व'। इस प्रकार का साधन-चतुष्टय-सम्पन्न व्यक्ति ही ज्ञानकाण्ड का अधिकारी होता है।

हम पहिले ही कह चुके हैं कि कर्मकाण्ड में भी परोपकार, सत्य भाषण इत्यादि की अत्यन्त आवश्यकता है। वेद का कर्मकाण्ड दो भागों में विभक्त है। प्रथम है मन्त्र भाग, जिसमें इन्द्रादि नाना देवताविषयक स्तव इत्यादि हैं एवं द्वितीय है ब्राह्मण भाग, जिसमें यज्ञादि-सम्पादन के नियमादि लिपिबद्ध हैं।

दशम अध्याय

सृष्टि-रहस्य

(रामकृष्ण मिशन सभा, रविवार २८ अगस्त, १८९८ ई।)

सृष्टि का अनादित्व

आज छान्दोग्य उपनिषद् की एक कहानी तुम्हारे सम्मुख रखूँगा। श्वेतकेतु नाम का एक ब्राह्मण पुत्र था। उनके पिता का नाम आरुणि होने के कारण उनको आरुणि श्वेतकेतु कहा जाता था। एक दिन उनके पिता ने उनसे कहा, "श्वेतकेतु, तुम गुरुगृह में जाकर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक वेदाध्ययन करो।" श्वेतकेतु ब्रह्मचर्य धारण कर द्वादश वर्षपर्यन्त गुरुगृह में वेदाध्ययन करने के पश्चात् घर लौटे। शास्त्रादि अध्ययन कर अपने पाण्डित्य का अनुभव करते हुए वे कुछ अहंकारी बन गए हैं, यह देखकर उनके पिता ने उनसे कहा, "श्वेत-केतु, यह सत्य है कि तुमने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया है, किन्तु क्या तुमने ऐसा कोई ज्ञान प्राप्त किया है जिसके द्वारा जगत् के समस्त पदार्थ जाने जा सकते हैं? मिट्टी का ज्ञान होने पर जिस प्रकार उसके विकार सकोरों, घटों इत्यादि सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार एक ऐसा पदार्थ है जिसे जान लेने पर जगत् में जानने के लिए और कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। इस प्रकार के

किसी पदार्थ का ज्ञान क्या तुम्हें प्राप्त हुआ है?" श्वेतकेतु ने कहा, "नहीं, मैं इस प्रकार के किसी पदार्थ को नहीं जानता हूँ। मेरे गुरुजी भी नहीं जानते हैं। यदि वे जानते होते, तो उस वस्तु को अवश्य ही मुझे बतलाते। अतः आप यदि उसे जानते हों तो मुझे बतलाने की कृपा करें।" आरुणि बोले, "श्वेतकेतु, पहिले केवल एक सत् वस्तु ही विद्यमान थी, और कुछ भी नहीं था। उनसे ही यह सब सृष्टि हुई है। उन्होंने इच्छा की — मैं अनेक बनूँगा, और वे ही सब कुछ बन गए।" इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन कर उन्होंने पुत्र को शिक्षा प्रदान की। अब हम लोगों के लिए यह समझना आवश्यक है कि यह जो सृष्टि-तत्त्व के वर्णन में कहा गया कि पहिले कुछ भी नहीं था, केवल एकमात्र सत् था, इसका क्या तात्पर्य है? सृष्टि एकदम थी ही नहीं या हुई नहीं थी, क्या यही इसका तात्पर्य है? नहीं, हमारे शास्त्र में कहीं भी इस प्रकार का उल्लेख नहीं है। इसका यह तात्पर्य है कि जगत् बीजरूप से उस सत् वस्तु में विद्यमान था। जगत् उस सत् वस्तु से भिन्न नहीं है। वे ही अनेक रूपों में मूर्तिमान हुए हैं। जब यह जगत् उनका अंश ठहरा, तब वह नहीं था, यह कैसे कहा जा सकता है? भले ही जगत् का विकास न रहा हो परन्तु बीज-रूप में वह विद्यमान था। बीज से उत्पन्न होकर जैसे वृक्ष क्रमशः शाखा-पत्रादि रूप से विकास को प्राप्त होता है तथा अन्त में पुन बीज-रूप में ही परिणत होकर नाश को प्राप्त होता है, वैसे ही जगत् पुनः पुनः विकास तथा लय को प्राप्त होता रहता है। व्यक्तावस्था से पुन. अव्यक्त-अवस्था में लीन हो जाता है। इस प्रकार विकास तथा प्रलय इन

दोनों अवस्थाओं के प्रवाह-रूप से जगत् अनादि काल से वर्तमान है। सत् वस्तु जिस प्रकार अनादि है, यह जगत् भी उसी प्रकार अनादि है। सृष्टि का आदि है यह कहने से दो दोष उपस्थित होते हैं, यह हम पिछली बार देख चुके हैं। वे दोष कौनसे हैं? पहिला है वैषम्य-दोष। हम जगत् में विषमता पाते हैं—कोई रोगी है तो कोई स्वस्थ; कोई धनी है तो कोई दरिद्र; कोई पण्डित है तो कोई मूर्ख, इत्यादि। इस प्रकार की विषमता क्यों तथा कहाँ से होती है? सृष्टि-कर्ता के द्वारा हुई है, यह कहने पर उनमें एक तो पक्षपात-दोष उपस्थित होता है तथा दूसरे, उनमें नैर्घृण्य-दोष भी आ जाता है अर्थात् उनका आचरण निष्ठुर प्रतीत होता है क्योंकि वे बिना कारण ही किसी को तो सुखी तथा किसी को महा दुखी बना रहे हैं। वेदादि शास्त्रों में जगत् का अनादि रूप से वर्णन किया गया है। वह प्रवाह-रूप से अनादि है। वह उन्हीं का रूप तथा उन्हीं का अंश है, वह स्वयं वे ही हैं। सृष्टि का आदि है, यह कहने से और भी एक दोष उपस्थित होता है, और वह यह कि जब सृष्टि नहीं हुई थी, तब भगवान् के सृष्टिकर्तृत्व के अभाव के कारण उनकी पूर्णता भी नहीं थी—वे अपूर्ण थे। सृष्टि-कर्ता बनने से उन्हें अधिक गुण की प्राप्ति हुई है या उनके गुण का ह्रास हुआ है, यह मानना पड़ता है। इसीलिए क्या वेद, क्या पुराण, क्या महाभारत, क्या स्मृति—सभी शास्त्रों में सृष्टि को अनादि कहा गया है।

सृष्टि-प्रक्रिया—प्राण तथा आकाश।

महाभारतादि में वर्णित इस सृष्टि-तत्त्व को पढ़कर साधारणतया

हम अनेक विषयों में भ्रान्त धारणा कर बैठते हैं। सृष्टि-प्रक्रिया के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि पहिले प्राण तथा आकाश की उत्पत्ति हुई। यहाँ पर हम प्राण शब्द का अर्थ नाना प्रकार से करते हैं। कोई तो इसका अर्थ श्वास-प्रश्वास मानते हैं तथा कोई प्राण शब्द से जीवात्मा समझ लेते हैं। किन्तु इन अर्थों में यह शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसी प्रकार आकाश शब्द का भी अर्थ हम अवकाश समझते हैं। इस आकाश शब्द के भी तीन प्रकार के अर्थ हैं। पहिला है महाकाश—बाह्य जगत् के समस्त पदार्थ इस महाकाश में विद्यमान हैं। सामने का यह प्रदीप, मेज, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, मनुष्य, वृक्षादि सब कुछ इसी आकाश में अवस्थित हैं। दूसरा अर्थ है चित्ताकाश। हम जो कुछ चिन्तन या विवेचन करते हैं या जिन सिद्धान्तों को मानते हैं, वे सभी भिन्न भिन्न रूप से हमारे चित्त में विद्यमान हैं। इसलिए मन का भी आकाश-रूप में वर्णन किया गया है। फिर तीसरा अर्थ है चिदाकाश अर्थात् ज्ञानमय आकाश। हम लोगों का जो ज्ञान है, वह स्वल्प ज्ञान मात्र है, किन्तु चिदाकाश पूर्ण ज्ञानमय आकाश है। हमारा ज्ञान अज्ञानमिश्रित है, किन्तु इस ज्ञान में अज्ञान नहीं है—यह तो पूर्ण ज्ञानस्वरूप है। इस आकाश में बाह्य महाकाश तथा अन्तर्निहित चित्ताकाश दोनों ही विद्यमान हैं। परन्तु सृष्टि-तत्त्व के वर्णन में आकाश शब्द का प्रयोग एक और ही अर्थ में किया गया है। इस आकाश शब्द से पदार्थ का वह सूक्ष्म अंश अभिप्रेत है जिसे अंग्रेजी में Matter कहा जाता है। यह जड़ पदार्थ का सूक्ष्म अंश है तथा प्राण शब्द का तात्पर्य भी सब शक्तियों की मूल शक्ति से है। जड़-जगत् की जितनी भी शक्तियाँ हैं, जैसे कि

गतिशक्ति, शारीरिक शक्ति, अन्नपाचन-शक्ति, चिन्ता-शक्ति, आध्यात्मिक शक्ति, ये सभी उसी एक प्राण के विकार हैं। इसी प्रकार हमारी श्वास-प्रश्वास-शक्ति भी उसी प्राण का विकार मात्र है। श्वास-प्रश्वास की विद्यमानता से ही मनुष्य जीवित रहता है, इसीलिए विशेषकर इसे प्राण शब्द से व्यक्त किया जाता है। किन्तु शास्त्रवर्णित सृष्टि-प्रक्रिया में जिस प्राण शब्द का उल्लेख है, उसका तात्पर्य एकमात्र मूल शक्ति से ही है, अन्य शक्तियाँ उसकी विकार मात्र हैं। इसी प्रकार आकाश शब्द से मूल जड़ वस्तु को ही समझना चाहिए, अन्य सभी जड़ पदार्थ उसी के विकार हैं।

सृष्टि-प्रक्रिया—शास्त्र तथा विज्ञान।

शास्त्र के सृष्टिविषयक अभिप्राय को न समझते हुए बहुधा हम भ्रान्त कहकर उसकी उपेक्षा कर देते हैं, किन्तु आधुनिक विज्ञान अनेक बातों में शास्त्रीय सृष्टि-तत्व की सत्यता को प्रमाणित कर देता है। शास्त्र का कथन है कि सृष्टि के प्रारम्भ में शक्ति अर्थात् प्राण का कार्य पूर्वोक्त आकाश पर होने लगता है। इसका पहिला परिणाम वायु या कम्पन है अर्थात् आकाश के परमाणुओं में कम्पन प्रारम्भ होता है। 'वा' धातु का अर्थ कम्पन है जिससे कि वायु शब्द बना है। आकाश से इस वायु या कम्पन की उत्पत्ति होती है। कम्पन से तेज उत्पन्न होता है। विज्ञान भी आजकल इसे प्रमाणित कर रहा है। किसी वस्तु की गति को रोकने से वह गरम हो उठती है। वायु के अत्यन्त वेग के साथ प्रवाहित होने पर ताप की उत्पत्ति होती है। विज्ञान कहता है कि पृथिवी, ग्रह, नक्षत्रादि पहिले उत्तप्त

दशा में विद्यमान थे, फिर धीरे धीरे ठण्डे होकर रहने के योग्य बने। अभी तक सूर्यलोक अत्यन्त गरम है। वहाँ पर पृथिवी की सारी ठोस वस्तुएँ भाप के रूप में वर्तमान हैं। यह तेज ठण्डा होकर अप् या जल बनता है तथा क्रमशः ठोस होकर पृथिवी या ठोस मृत्तिकादि के रूप में परिणत होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ये पञ्च महाभूत पूर्वोक्त प्रकार से उत्पन्न होकर पहिले सूक्ष्म अवस्था में विद्यमान रहते हैं। अनन्तर धीरे धीरे इनके संमिश्रण से इस स्थूल जगत् की उत्पत्ति होती है।

सृष्टि-तत्व के विषय में सांख्य तथा वेदान्त के मत।

वेदान्त के मत से यह स्थूल जगत् उसी एक सत् पदार्थ का ही रूपान्तर मात्र है। एकमात्र सत् वस्तु का ही अवलम्बन कर यह जगत् विद्यमान है। वे ही इस जगत् के रूप में प्रकट हुए हैं। साधारणतया लोग वेदान्त का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि जगत् मिथ्या है, जगत् है ही नहीं, किन्तु वेदान्त का तात्पर्य यह नहीं है। जब सत् वस्तु से इस जगत् की सृष्टि हुई है, तब इसे एकदम मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? जब वे ही सब जीव-जन्तुओं के प्राण-रूप में वर्तमान हैं, तब यह मिथ्या कैसे हो सकता है? यहाँ पर 'मिथ्या' शब्द का तात्पर्य 'अल्प सत्य—उस पूर्ण सत्य वस्तु की अपेक्षा अल्प सत्य' से है। ऐसा समझने पर फिर किसी प्रकार की गड़बड़ी होने की सम्भावना नहीं है। सांख्यों का सृष्टि-तत्व इस प्रकार है कि पुरुष तथा प्रकृति दोनों ही अनादि हैं। पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति में क्रिया होने लगती है, जैसे कि चुम्बक के सान्निध्य से लोहा

आकृष्ट हो जाता है। प्रकृति से महान् अर्थात् बुद्धि, बुद्धि से अहं-ज्ञान, अहङ्कार से सूक्ष्म पञ्चभूत इत्यादि की क्रम से सृष्टि होती रहती है।

ईश्वर-तत्व के विषय में सांख्य और वेदान्त में भेद।

सांख्य और वेदान्त में भेद इतना ही है कि सांख्य ईश्वर-तत्व को नहीं मानता, किन्तु वेदान्त मानता है। वेदान्त का कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य का यह शरीर है, समग्र सृष्ट जगत् भी उसी प्रकार एक महान् विराट शरीर है। हम लोगों के शरीर उस विराट शरीर के अंश मात्र हैं। प्रत्येक व्यक्ति का जिस प्रकार मन है, उसी प्रकार इस स्थूल जगत् में भी एक अनन्त मन विद्यमान है, और हम लोगों के मन उस अनन्त मन के ही अंश मात्र हैं। सभी शरीर परस्पर सम्बद्ध हैं, क्योंकि वे एक ही विराट शरीर के अंश मात्र हैं। समस्त मन भी परस्पर सम्बद्ध हैं, क्योंकि वे भी एक विराट मन के अंश हैं।

वैदान्तिक ईश्वरवाद की व्यावहारिकता — निःस्वार्थपरता।

जब एक शरीर कष्ट भोगता है या एक मन को दुःख होता है, तब अन्यान्य शरीरों तथा मनों में भी उस तरङ्ग का प्रतिघात होना अनिवार्य है; क्योंकि वे परस्पर सम्बद्ध तथा उस एक के ही अंश से बने हुए हैं। अत. तुम्हारे कल्याण से मेरा भी कल्याण है और तुम्हारे अमङ्गल से मेरा भी अमङ्गल। तुम्हारी उन्नति या अवनति तुम्हीं तक सीमित नहीं है, किन्तु उसका प्रभाव हम पर तथा सम्पूर्ण जगत् पर पड रहा है। इसी प्रकार एक जाति की उन्नति-अवनति दूसरी जातियों को भी स्पर्श करती हैं। वेदान्त के इस महान् सत्य को जिस दिन से हम भूले हैं, उसी दिन से हमारी अवनति का द्वार खुल गया है। स्वार्थ के वशीभूत होकर

स्त्री तथा शूद्र जाति के प्रति हमने जो अत्याचार किया है, उसी का फल अब हम भोग रहे हैं। समाज-शरीर का एक अंग रोगग्रस्त होने पर दूसरा अंग भी रोगी बन जाता है। पाश्चात्य देशवासियों ने वेदान्त के अध्ययन के बिना ही अपनी विचक्षणता के द्वारा इसे अनुभव किया है तथा इस सत्य को कार्य में परिणत करने में वे अब संलग्न हैं। किसी देश में महामारी के फैलने से दूसरे देशों में भी उसका विस्तार सम्भव है, यह जानकर वे दूसरे देशों में भी इसके निवारण करने की चेष्टा में लगे हुए हैं। स्त्री जाति की अवनति के परिणाम-स्वरूप समाज के दूसरे अग — पुरुष जाति — की भी अवनति स्वाभाविक है तथा दूसरे देशों के अमङ्गल से अपना भी अमङ्गल अनिवार्य है, इस बात का भी वे अनुभव कर रहे हैं। वेदान्त इस महान् भाव का प्रचार कर रहा है कि जगत् के सभी व्यक्ति तथा वस्तुएँ उस विराट मूर्ति के ही अङ्ग-स्वरूप हैं। भगवान् ने गीता में कहा है, "हे अर्जुन, जो कुछ भी शक्तिशाली तथा श्रेष्ठ है, वह मेरा ही रूप है। मैं नदियों में गङ्गा हूँ, वृक्षों में अश्वत्थ हूँ" इत्यादि कहकर अन्त में वे कहते हैं, "इस प्रकार अलग अलग अपनी विभूति की बातें मैं और कहाँ तक कहूँ, अपने ही एक अश के द्वारा सम्पूर्ण जगत् के रूप में मैं स्थित हूँ।" इस विराट की पूजा ही श्रेष्ठ पूजा है। साधन-भजन शब्द का अर्थ यदि एक शब्द में कहना हो, तो यही कहना पड़ता है कि वह है पूर्णतया स्वार्थत्याग। चाहे ज्ञानमार्ग हो या भक्तिमार्ग, स्वार्थत्याग के बिना किसी भी मार्ग में अग्रसर होने की सम्भावना नहीं है। अपने को भूल जाओ,—अपने को

भूलने में जो समर्थ हुआ है, स्वार्थ को जो त्याग सका है, उसके साधन-भजन सभी पूर्ण हो चुके हैं। क्या ईश्वर चाटुकारिताप्रिय हैं कि जिसने उनकी स्तव-स्तुति की, उसके प्रति तो वे प्रसन्न होंगे और जिसने नहीं की, उसके प्रति विमुख बने रहेंगे? नहीं, वे इस प्रकार के नहीं हैं। कोई व्यक्ति यदि भगवान् को न मानता हो, किन्तु स्वार्थरहित हो दूसरों की सेवा को उसने अपना व्रत बना लिया हो तो जान लेना कि उसके लिए ईश्वर-प्राप्ति में विलम्ब नहीं है। और जो दिनरात ईश्वरा-राधन में लगा हुआ है किन्तु महास्वार्थी है, उसके साधन-भजन सब निष्फल प्रयास मात्र ही हैं। सर्व भूतों में भगवान् को देखना होगा, उनकी मूर्ति समझकर प्राणिमात्र की सेवा करनी होगी। वेदान्त का यही कथन है कि हम सभी उस विराट के अंश हैं। उस विराट मन के एक क्षुद्र अंश को अपने अधिकार में पाकर मैं कहता हूँ कि यह मेरा मन है, तुम भी उसमें से कुछ अंश को लेकर कहते हो कि वह तुम्हारा मन है, जैसे कि गंगा के अंशों में घेरा डालकर हम एक एक पृथक् नाम देते हैं—घोष गङ्गा, बोस गङ्गा इत्यादि। परन्तु सभी यह जानते हैं कि वास्तव में गङ्गा एक ही है—एक ही जल, एक ही तरङ्ग है। केवल नाम-रूप को लेकर ही हम भिन्नता का अनुभव कर रहे हैं। समुद्र के किसी भाग को किसी नाम से तथा दूसरे किसी भाग को दूसरे नाम से हम पुकारते मात्र हैं, परन्तु वास्तव में समुद्र तो एक ही है। उसी प्रकार मन भी एक है, केवल उपाधि-भेद से हम उसे भिन्न भिन्न बतलाते हैं। जब दो मन स्वार्थरहित होकर आपस में प्रेम के द्वारा एक हो जाते हैं, तब उन दोनों में किसी

प्रकार की भिन्नता नहीं रहती, और तब उनके शरीर संसार के दो अलग अलग छोरों पर रहने पर भी, वे एक दूसरे के मन की बातों को जान लेते हैं। ऐसे अनेक दृष्टान्त हमें देखने को मिलते हैं। इस प्रकार हमारे मन तथा शरीर एक दूसरे के साथ संलग्न हैं—यह एक महान् सत्य है। अत. जब हमारे मन में पाप-चिन्ता का उदय होता है, तब अन्यान्य मनों की सारी पाप-चिन्ताएँ हमारी ओर प्रवाहित होकर हमें अधिक पाप में निमग्न कर देती हैं, तथा किसी सद्भाव या धर्म-चिन्ता के उदय होने पर सभी साधु-महापुरुषों की चिन्ताएँ हमारे मन की ओर क्रियाशील होकर उसे और भी उन्नत बना देती हैं। इसी तरह हमारे समस्त साधन-भजन हमें स्वार्थरहित बनाकर उस विराट पुरुष की उपलब्धि की ओर क्रमश अग्रसर कराते रहते हैं।

व्यक्ति-भेद से ईश्वर का प्रकाश।

जैसा जिसका मन है, विराट के सम्बन्ध में उसकी धारणा भी वैसी ही है। जो निर्दय स्वभाव का है, उसके लिए भगवान् भी निर्दयी दिखाई देते हैं। जो पुण्यात्मा है, भगवान् को वह अनन्त पुण्यमय देखता है। इस प्रकार हम अपने अपने स्वभाव के अनुसार ही भगवान् के विषय में कल्पना किया करते हैं। यह स्वाभाविक एवं सत्य है, क्योंकि अपने अपने मन की उन्नति के अनुसार ही भगवान् के विषय में हमारी धारणाएँ अलग अलग होने लगती हैं तथा भगवान् का स्वरूप भी उस समय हमारे लिए तदनुरूप ही प्रतीत होता है। ईश्वर के सम्बन्ध में हमारी ये सब धारणाएँ एक प्रकार से सत्य तथा दूसरे प्रकार से मिथ्या भी कही जा

सकती हैं। पृथिवी पर से सूर्य को हम जिस प्रकार देखते हैं, सूर्य का वह यथार्थ रूप नहीं है, किन्तु हम जो देखते हैं, वह मिथ्या भी नहीं है। सूर्य की ओर जितना ही हम अग्रसर होंगे, उतनी ही उसमें हम पहले के देखे हुए स्वरूप से भिन्नता पाएँगे। यदि कभी हम सूर्यलोक में पहुँच सकें, तभी हमें सूर्य का यथार्थ रूप दृष्टिगोचर होगा। और एक दृष्टान्त लो—दूर से पर्वत ऐसा दिखाई देता है कि मानो एक काली घटा उठी है, किन्तु जितना ही हम आगे बढ़ते हैं, उतना ही उस पर्वत पर स्थित वृक्ष-मन्दिर आदि हमें देखने को मिलते हैं। क्रमश. और भी अग्रसर होने पर जीव-जन्तु सभी देखने में आते हैं। इसी प्रकार हम उस विराट पुरुष के जितना ही निकट पहुँचते हैं, उतने ही उनके नूतन नूतन भावों को हम देखते और समझते जाते हैं तथा क्रमश. पूर्ण ज्ञान का विकास होने पर उन्ही में लीन हो जाते हैं। परमहंसदेव इस विषय में एक दृष्टान्त दिया करते थे, "जैसे छत के छेद से घर के अन्दर थोड़ा सा प्रकाश आ रहा है। जो घर के भीतर है, प्रकाश का ज्ञान भी उसके लिए उतना ही है। जिसके घर में अनेक छेद हैं, वह अधिक प्रकाश देख पाता है। दरवाजे और झरोखे बनाने पर और भी ज्यादा प्रकाश मिलता है। जो घर छोड़कर खुली जगह में जा बैठा है, उसके लिए तो प्रकाश ही प्रकाश है। इसी प्रकार लोगों की मानसिक अवस्था के अनुरूप ही भगवान् अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं।"

क्या वेदान्त नास्तिकवाद है?

लोग भ्रान्त धारणा के वशीभूत होकर वेदान्त-शास्त्र को नास्तिक

शास्त्र कहते हैं। जो वेदान्त सबके अन्दर अनन्त का दर्शन कराता है, ब्रह्म के अंश-ज्ञान से सबकी पूजा करने को कहता है, क्या कभी वह नास्तिक शास्त्र हो सकता है? हम अत्यन्त हीन बन चुके हैं। न तो हम शास्त्र को पढ़ते हैं और न समझते ही हैं, इसीलिए हमारी यह दुर्दशा है। हमें शास्त्र के मर्म को फिर से समझना होगा, सबके अन्दर उस आनन्दमय ब्रह्म को देखना होना तथा सम्पूर्ण जगत में उनकी उपलब्धि करनी होगी। तभी हमारे लिए उन्नति का अवसर प्राप्त होगा।

एकादश अध्याय

साधन-निष्ठा

(रामकृष्ण मिशन सभा, ४ सितम्बर, १८९८ ई. ।)

गीता में भगवान् कह रहे हैं, "ईश्वर की उपासना के लिए अग्रसर होने वाले मनुष्यों की इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा देखने में आती है। प्रथम — ज्ञाननिष्ठा और द्वितीय—कर्मनिष्ठा। कर्मानुष्ठान के बिना मनुष्य ज्ञान को प्राप्त नहीं होता तथा ज्ञान की प्राप्ति न होने से केवल सन्यास के द्वारा सिद्धि-लाभ भी नहीं हो सकता। कर्म को त्यागकर क्षणमात्र के लिए भी जीवित रहने का उपाय नहीं है। इच्छा के न रहने पर भी प्राकृतिक गुण मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करता रहता है। तुम निरन्तर कर्म का अनुष्ठान करो — कर्म-त्याग की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। समस्त कर्मों को त्यागकर तुम्हारे लिए अपने शरीर का निर्वाह भी सम्भव नहीं," इत्यादि। हम पहिले ही देख चुके हैं कि वेद की प्रतिज्ञा क्या है। ब्रह्मज्ञान लाभ करने का उपाय क्या है, इसी की शिक्षा हमें वेद से मिलती है। आत्मज्ञान किसे कहते हैं तथा किस उपाय का अवलम्बन करने पर उसे प्राप्त किया जा सकता है, वेद सबके लिए इसी विषय को बतलाता है। वेद का कथन है कि सभी के अन्दर परमात्मा विद्यमान हैं। जीव-जन्तु,

कीट-पतङ्गों में तथा सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रों में सर्वत्र ही वे अवस्थित हैं। समस्त सृष्टि-कार्यों के अन्दर तथा बाहर वे ही ओत-प्रोत हैं।

उन्हें कौन प्राप्त कर सकता है? जिसमें दृढ़ता है, जो साहसी है, वही उनको प्राप्त करने में समर्थ है। जिसका शरीर दुर्बल है, जिसका मन निस्तेज है, उसके लिए आत्म-ज्ञान का लाभ होना कठिन है। तेजस्वी बनना पड़ेगा, तभी भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है। विशेषकर वेद सनातन धर्म की ही बातें कहता है। सनातन धर्म का अर्थ-वह धर्म है जो, चाहे देवता हो या मनुष्य, सभी के लिए नित्य समान रूप से अनुष्ठेय है तथा जो सब काल में एक तथा परिवर्तन-रहित है। स्मृति, पुराण, बाइबिल, कुरान आदि देश, काल तथा पात्र के भेद से युग-धर्म के विषयों को वर्णन करते हैं। देश, काल तथा पात्र के अनुसार समय समय पर नाना प्रकार के युग-धर्म जगत् में प्रचलित हुए तथा हो रहे हैं। हमारा विश्वास है कि वर्तमान समय के युग-धर्म को श्रीरामकृष्णदेव ने अपने जीवन के द्वारा प्रमाणित कर दिया है। सक्षेप में इसका निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है कि अपने धर्म-मत में निष्ठा रखो, किन्तु दूसरों के धर्म से भी प्रेम करो, और उन्हें घृणा की दृष्टि से न देखो। उन्होंने इस बात को केवल कहा ही नहीं है, किन्तु अपने जीवन में इसका अनुष्ठान कर हमें दिखाया भी है। "जितने मत, उतने ही पथ हैं" इसको उन्होंने साधन के द्वारा अनुभव तथा प्रत्यक्ष किया था। सभी धर्म सत्य हैं। जो जैसा अधि-कारी है, उसी के अनुसार वह अपने अनुकूल मार्ग को चुन लेता है।

शास्त्र का कथन है कि सृष्टि अनादि है। सृष्टि का आदि मानने

पर भगवान् में अपूर्णता-दोष उपस्थित होता है। यदि यह कहा जाय कि सृष्टि से पहिले वे पूर्ण थे तो यह कहना पड़ता है कि सृष्टि के बाद वे पूर्णतर बने, और यदि यह कहा जाय कि सृष्टि के बाद वे पूर्ण बने, तो फिर यह कहना पड़ता है कि सृष्टि से पहिले वे अपूर्ण थे। इन दोनों ही पक्षों में दोष विद्यमान है। 'पूर्णतर' स्व-विरोधी शब्द है, क्योंकि जो पूर्ण से पूर्णतर बना, वास्तव में वह अपूर्ण ही था, यही कहना पड़ता है। पूर्ण का पुनः नवीन विकास हो ही क्या सकता है? सृष्टि का आदि मानने पर भगवान् निष्ठुरता-दोष के दोषी बन जाते हैं। देखने में आता है कि जगत् में कोई तो दरिद्र, रोगी एवं मूर्ख हैं; और कोई धनी, स्वस्थ तथा विद्वान् हैं। भगवान् को यदि इस प्रकार विभिन्न रूप से विभिन्न व्यक्तियों की सृष्टि का कारण माना जाय, तो उनमें पक्षपातित्व तथा निष्ठुरता-दोष अनिवार्य हो जाते हैं। इसीलिए शास्त्र का कहना है कि सृष्टि अनादि है।

जब यह सृष्टि सूक्ष्म रूप से बीजावस्था में रहती है, तब इसकी प्रलयावस्था है, और जब स्थूल रूप से प्रकट होती है तब सृष्टि है। एक सृष्टि तथा एक प्रलय को लेकर एक 'कल्प' होता है। इस प्रकार सृष्टि तथा प्रलय का क्रम अनादि काल से वर्तमान है। भगवान् से पृथक् इसकी कोई सत्ता नहीं है। वे ही सब कुछ बन गए हैं। शास्त्र का कहना है कि उन्होंने ईक्षण किया (इच्छा की) कि प्रजा-रूप से मैं अनेक बनूँ और तत्काल ही वे जगत् के रूप में परिणत हो गए तथा अनेक बन गए। सृष्टि-कार्य में भगवान् के लिए किसी प्रकार के उद्देश्य का होना सम्भव नहीं; क्योंकि वे पूर्ण हैं। कार्य में उद्देश्य किसमें

पाया जाता है?— जिसको किसी प्रकार का अभाव हो। उस अभाव को दूर करने के लिए ही वह नाना प्रकार से कार्य करता है तथा विभिन्न विषयों की सहायता लेता है। भगवान् को किसी प्रकार का अभाव नहीं है। उन्हें कुछ भी प्राप्त नहीं करना है, क्योंकि वे तो पूर्णस्वरूप हैं। इसलिए सृष्टि-कार्य में उनका कुछ भी उद्देश्य नहीं है। पाश्चात्य देशवासी इस बात को नहीं समझ पाते। किसी उद्देश्य को लेकर सृष्टि नहीं की गई है ऐसा कहने पर वे यह समझने लगते हैं कि तब तो सृष्टि में कोई नियम-शृङ्खला ही नहीं है, वह तो केवल पागलपन मात्र ही है। उद्देश्य के बिना भी कार्य हो सकता है, इसकी वे धारणा नहीं कर पाते हैं, क्योंकि अपने तथा दूसरे लोगों की अपूर्णता को देखकर वे यह दृढ निश्चय कर लेते हैं कि साधारण मनुष्यों के द्वारा कभी भी उद्देश्यविहीन कोई कार्य हो नहीं सकता। वे देखते हैं कि जब अपने में अभाव है तभी तो कार्य करना पड़ता है। अतः वे यह अनुमान करते हैं कि सृष्टि-कार्य भी इसी प्रकार सम्पन्न हुआ है। किसी एक महान् उद्देश्य के द्वारा परिचालित होकर ही भगवान् ने यह सृष्टि की है। किन्तु विचारपूर्वक देखने पर यह युक्ति भ्रमात्मक प्रतीत होती है, क्योंकि इसके द्वारा यह सिद्धान्त अनिवार्य हो जाता है कि भगवान् मनुष्य के सदृश हैं। सृष्टि-कार्य में भगवान् का कोई भी उद्देश्य नहीं है, यह तो उनका खेल है, उनकी लीला मात्र है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि क्या सम्पूर्णतया उद्देश्यविहीन भी कोई कार्य हो सकता है? शास्त्रकारों का कहना है कि अवश्य हो सकता है। वे दृष्टान्त देते हैं कि जैसे बालकों के कार्य होते हैं, मार्ग में

चलते चलते बालक जिस प्रकार कीड़े को देखकर उसे पकड़ने के लिए दौड़ता है, और बिना किसी उद्देश्य के नाना प्रकार के अन्य कार्यों को करता है, भगवान् का सृष्टि-कार्य भी उसी प्रकार का है। इस प्रकार जगत् में विभिन्न वेषों में वे ही सजे हुए हैं — यह उनका खेल या लीला मात्र है।

हम देखते हैं कि संसार में कोई धनी, तो कोई दरिद्र है; कोई सुखी, तो कोई दुखी है, कोई मूर्ख, तो कोई पण्डित है। इस प्रकार की विषमता का कारण क्या है? शास्त्र का कथन है कि इसका कारण कर्म है। शास्त्रों में कर्म शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शास्त्र का कहना है कि पृथ्वी-नक्षत्रादि भी कर्म-सम्भूत हैं। इसका तात्पर्य क्या है? यहाँ पर, कारण या बीज-रूप से कार्य या प्रकट अवस्था में परिणत होना ही कर्म शब्द का अर्थ है, इस प्रकार की परिणति को ही 'कर्म' कहा जाता है। सृष्टि जब अनादि ठहरी तब सृष्टि की विषमता के कारण 'कर्म' भी अनादि हैं, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है।

कर्म का फल अवश्यम्भावी है। चाहे जिस कर्म का ही अनुष्ठान क्यों न करो, उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। कोई भी इससे छुटकारा नहीं पा सकता। चिन्तन-रूप मानसिक कर्म का भी फल विद्यमान है। किसी पाप-चिन्ता के उदय होने पर तत्काल ही उसके फलस्वरूप मन कलुषित हो जाता है तथा जब वह पाप-चिन्ता प्रबल हो उठती है, तब वह शारीरिक कार्य के रूप में बाहर प्रकट होने लगती है। बहुधा हम कर्म के फल को नहीं देख पाते हैं, फिर भी यह निश्चित

है कि किसी न किसी रूप में वह विद्यमान अवश्य रहता है। शारीरिक-अनियम रोग बनकर हमें कष्ट देते हैं। औषध के प्रयोग से रोग निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार शारीरिक अनियम का फल, औषधसेवन-रूप एक और कर्मफल के द्वारा रूपान्तरित मात्र हो गया; किन्तु हमें तो दोनों विभिन्न कर्मों के फलों को ही भोगना पड़ा। उनमें से किसी का भी नाश नहीं हुआ। भेद केवल इतना ही है की दोनों की प्रतीति हमारे लिए एक ही कर्मफल के रूप में हुई। जिस प्रकार नाव के मस्तूल में रस्सी बाँधकर नदी के दोनों किनारों से खींचने पर नाव किसी भी तट की ओर न जाकर नदी के बीच में ही चलती रहती है, उसी प्रकार दो भिन्न भिन्न कर्मों के संयोग से एक पृथक् फल उत्पन्न होता है, बस इतना ही। किन्तु कभी भी कर्मफल का नाश नहीं होता।

बहुतेरे लोगों का यह विश्वास है कि किसी अवतारविशेष में विश्वास करने से ही समूचे पाप दूर हो जाते हैं। वेदान्त का कहना है कि यह बात नहीं है। स्वयं हरि, हर या ब्रह्मा भी यदि तुम्हारे उपदेष्टा बनें, फिर भी तुम्हारा मोक्ष तुम्हारी ही निजी चेष्टा पर निर्भर है।* तब फिर अवतार आदि क्या करते हैं? वे अपने धर्ममय जीवन को हमारे समक्ष रखकर इस बात की शिक्षा देते हैं कि हमें क्या करना चाहिए। वे हमारे सम्मुख एक आदर्श जीवन को रखते हैं, जिससे कि हम तदनुरूप बन सकें। वे आदर्श स्थापन कर जाते हैं तथा मनुष्य-जीवन में उसे परिणत करने के सहज उपाय का भी निर्देश

---

* हरिस्ते उपदेष्टार हर कमलजोऽपि वा।
तथापि तव न स्वास्थ्य सर्वविस्मरणादृते॥

कर जाते हैं। इसके प्रभाव से लाखों जीवन में परिपूर्ण होने वाले कार्यों को सौ जन्म में, यहाँ तक कि एक जन्म में समाप्त करने की शक्ति पाकर मनुष्य धर्म की चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इसीलिए शास्त्र का कथन है कि कर्म तथा कर्मफल नित्य-सम्बद्ध हैं—वे कार्यकारणसूत्र में आबद्ध हैं। प्रलय-काल में बीजरूप से तथा सृष्टि-काल में प्रकट रूप से ये विद्यमान रहते हैं, भेद केवल इतना ही है।

साधारणतया चार प्रकार के मनुष्य देखने में आते हैं। कुछ लोग ज्ञानप्रधान स्वभाव के हैं। विचार किए बिना किसी भी तत्व को वे मानना नहीं चाहते। लोगों की बातों में विश्वास करके वे कोई भी कार्य करना नहीं चाहते। द्वितीय—भक्तिप्रधान स्वभाव के लोग हैं। ये लोग किसी पर अटूट विश्वास करते हुए उसी के आधार पर थोड़ा-बहुत विचार किया करते हैं। तृतीय—कर्मप्रधान स्वभाव के लोग हैं। परोपकार आदि धर्म को ही एकमात्र कर्तव्य मानकर सदा वे कर्मों का ही अनुष्ठान किया करते हैं। चतुर्थ—योगप्रधान स्वभाव के लोग हैं। ये लोग मानसिक शक्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। मनुष्य इन चारों भावों में से किसी एक को लेकर ही अवस्थित रहता है, ऐसा कहना भ्रम है। केवल इतना ही है कि प्रत्येक व्यक्ति के मन में इनमें से किसी एक भाव का प्राबल्य रहता है। चाहे किसी व्यक्ति में कोई भी भाव प्रबल क्यों न हो तथा किसी भी मार्ग का अवलम्बन कर कोई क्यों न चले, उन्नति की चरम सीमा पर सभी लोग भगवान् के साथ एकत्व की उपलब्धि करने लगते हैं और उस एकत्व की उपलब्धि के लिए शास्त्रों में चारों

ही मार्गों का उपदेश दिया गया है। ये ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग तथा राजयोग के नाम से प्रसिद्ध हैं। भगवान् के साथ हमें युक्त करने के कारण ही इनको 'योग' कहा जाता है। संक्षेप में उनमें से कर्मयोग के विषय में कुछ कहता हूँ। अहंभाव को त्यागकर वासना-रहित हो भगवान् के लिए कर्म करने का नाम ही निष्काम कर्म है। आहार-विहार आदि चाहे जिस कर्म का भी अनुष्ठान क्यों न करो, सब कुछ भगवान् के लिए कर रहे हो, इस भाव को हृदय में बनाए रखो। तुम अपने लिए कर रहे हो, यह न सोचकर ऐसा समझो कि भगवान् के लिए कर रहे हो।

द्वादश अध्याय

कर्म के दो रूप

(रामकृष्ण मिशन सभा, १० सितम्बर, १८९८ ई।)

शास्त्र में 'कर्म' शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है। साधारणतया मनुष्य जो कुछ करता है उसे ही कर्म कहा जाता है, किन्तु शास्त्र में जहाँ इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि कर्म से पृथिवी की उत्पत्ति हुई है — कर्म से सूर्य तथा चन्द्र उत्पन्न हुए हैं, वहाँ पर कर्म शब्द उस कार्य-कारण-प्रवाह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसके द्वारा समग्र जगत् वीजावस्था से विशिष्ट नाम-रूप को लेकर प्रकट हो रहा है। अव्यक्त अवस्था से व्यक्त रूप में वस्तु की परिणति को ही कर्म कहा गया है। अतः परिवर्तन तथा परिणमन शक्ति ही कर्म के प्रधान लक्षण हैं। इसीलिए गीता का कथन है — "भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः" — अर्थात् जिस त्याग या वर्जन के द्वारा भूतान्तरों की उत्पत्ति होती है, वही कर्म है।

कर्म दो प्रकार के हैं — सकाम तथा निष्काम। किसी भी कर्म को शास्त्र में व्यर्थ नहीं कहा गया है। वहुतेरे लोग कहते हैं, "संसार में रहकर भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। मनुष्य संसार में जिन कर्मों का अनुष्ठान कर रहा है, वे सभी मिथ्या हैं। उनके द्वारा कदापि भगवद्दर्शन

नहीं हो सकता। सर्वकर्म-संन्यास ही भगवत्प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।" किन्तु यह सर्वथा भूल है। केवल अवस्थाविशेष को लक्ष्य कर ही शास्त्र में कर्तव्य का निर्देश किया गया है। संसार को तुच्छ तथा संन्यास को श्रेष्ठ नहीं बतलाया गया है। अवस्थानुसार किसी के लिए संसार उपयुक्त है और किसी के लिए संन्यास, इतना ही कहा गया है। सभी कर्म हमें भगवान् की ओर ले जा रहे हैं। कोई भी कर्म व्यर्थ नहीं है। जो अत्यन्त स्वार्थपूर्ण कर्म हैं, उनके भी निरन्तर अनुष्ठान के द्वारा नाना प्रकार की यातनाओं को भोगकर लोग शनैः शनैः अभिज्ञ बनते तथा निष्काम कर्म की ओर अग्रसर होते हैं। जब उस निष्काम भाव की पूर्णता होती है, तभी स्वाभाविकतया संन्यास आकर उपस्थित होता है। इसी का नाम यथार्थ सन्यास है। यह संन्यास भोग तथा त्याग इन दोनों लक्षणों के अन्तर्गत नहीं है। यह उन दोनों के बहिर्भूत है। प्रारम्भ ही से कर्म को त्यागकर एकदम संन्यास लेने से मनुष्य कभी आगे नहीं बढ़ सकता। इसीलिए परमहंसदेव कहा करते थे, "चर्मरोग के ठीक हो जाने पर अपने आप ही शरीर पर से सूखी चमड़ी झड़ जाती है। किन्तु रोग अच्छा होने के पहिले उसको उखाड़ने का प्रयास करने पर वेदना, रक्तपात तथा घाव की ही वृद्धि होती है।"

इस बात को और भी विशद रूप से समझाने के लिये वे कहा करते थे, "संसार, सन्यास, कर्म, ज्ञान इत्यादि सभी अपने आप मनुष्य की उन्नति-स्तर के अनुसार आकर उपस्थित होते हैं, इसलिए जैसी जिसकी शारीरिक तथा मानसिक अवस्था है, उसके लिए तदनुरूप कर्म की व्यवस्था की गई है। जिस लड़के का जैसा स्वास्थ्य होता है,

द्वादश अध्याय

कर्म के दो रूप

(रामकृष्ण मिशन सभा, १० सितम्बर, १८९८ ई।)

शास्त्र में 'कर्म' शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है। साधारणतया मनुष्य जो कुछ करता है उसे ही कर्म कहा जाता है, किन्तु शास्त्र में जहाँ इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि कर्म से पृथिवी की उत्पत्ति हुई है—कर्म से सूर्य तथा चन्द्र उत्पन्न हुए हैं, वहाँ पर कर्म शब्द उस कार्य-कारण-प्रवाह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसके द्वारा समग्र जगत् बीजावस्था से विशिष्ट नाम-रूप को लेकर प्रकट हो रहा है। अव्यक्त अवस्था से व्यक्त रूप में वस्तु की परिणति को ही कर्म कहा गया है। अतः परिवर्तन तथा परिणमन शक्ति ही कर्म के प्रधान लक्षण हैं। इसीलिए गीता का कथन है—"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञित."—अर्थात् जिस त्याग या वर्जन के द्वारा भूतान्तरों की उत्पत्ति होती है, वही कर्म है।

कर्म दो प्रकार के हैं—सकाम तथा निष्काम। किसी भी कर्म को शास्त्र में व्यर्थ नहीं कहा गया है। बहुतेरे लोग कहते हैं, "संसार में रहकर भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। मनुष्य संसार में जिन कर्मों का अनुष्ठान कर रहा है, वे सभी मिथ्या हैं। उनके द्वारा कदापि भगवद्दर्शन

नहीं हो सकता। सर्वकर्म-संन्यास ही भगवत्प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।" किन्तु यह सर्वथा भूल है। केवल अवस्थाविशेष को लक्ष्य कर ही शास्त्र में कर्तव्य का निर्देश किया गया है। संसार को तुच्छ तथा संन्यास को श्रेष्ठ नहीं बतलाया गया है। अवस्थानुसार किसी के लिए संसार उपयुक्त है और किसी के लिए संन्यास, इतना ही कहा गया है। सभी कर्म हमें भगवान् की ओर ले जा रहे हैं। कोई भी कर्म व्यर्थ नहीं है। जो अत्यन्त स्वार्थपूर्ण कर्म हैं, उनके भी निरन्तर अनुष्ठान के द्वारा नाना प्रकार की यातनाओं को भोगकर लोग शनै शनै. अभिज्ञ बनते तथा निष्काम कर्म की ओर अग्रसर होते हैं। जब उस निष्काम भाव की पूर्णता होती है, तभी स्वाभाविकतया संन्यास आकर उपस्थित होता है। इसी का नाम यथार्थ सन्यास है। यह सन्यास भोग तथा त्याग इन दोनों लक्षणों के अन्तर्गत नहीं है। यह उन दोनों के बहिर्भूत है। प्रारम्भ ही से कर्म को त्यागकर एकदम संन्यास लेने से मनुष्य कभी आगे नहीं बढ़ सकता। इसीलिए परमहंसदेव कहा करते थे, "चर्मरोग के ठीक हो जाने पर अपने आप ही शरीर पर से सूखी चमड़ी झड़ जाती है। किन्तु रोग अच्छा होने के पहिले उसको उखाड़ने का प्रयास करने पर वेदना, रक्तपात तथा घाव की ही वृद्धि होती है।"

इस बात को और भी विशद रूप से समझाने के लिये वे कहा करते थे, "संसार, सन्यास, कर्म, ज्ञान इत्यादि सभी अपने आप मनुष्य की उन्नति-स्तर के अनुसार आकर उपस्थित होते हैं, इसलिए जैसी जिसकी शारीरिक तथा मानसिक अवस्था है, उसके लिए तदनुरूप कर्म की व्यवस्था की गई है। जिस लड़के का जैसा स्वास्थ्य होता है,

माता उसके लिये वैसे ही पथ्य की व्यवस्था करती है। आध्यात्मिक जगत् में भी यही बात है। कोई भी कर्म धर्मरहित नहीं है। फिर भी जिसका जैसा अधिकार है, उसके लिए तदनुरूप कर्म की ही व्यवस्था है। एक ही प्रकार का धर्मानुष्ठान सबके लिये उपयोगी नहीं हो सकता।"

शास्त्र में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, दोनों मार्गों का ही वर्णन है। जिस व्यक्ति में सुख-भोग की इच्छा प्रबल है, धर्मानुष्ठान में वह स्वाभाविकतया यज्ञादि सकाम कर्म में ही प्रवृत्त होता है। सुखादि भोग के अनन्तर क्रमशः जब उसे यह अनुभव होने लगता है कि किसी और ही श्रेष्ठतर वस्तु के लिए उसका मन लालायित हो रहा है, तब स्वयं ही वह उस सकाम कर्म का परित्याग कर निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेता है। राजा ययाति ने पुरु से उसका यौवन लेकर सहस्र वर्ष-पर्यन्त भोग करने के उपरान्त जब उसे वह लौटा दिया, तब उन्होंने कहा था, "काम्य वस्तुओं के उपभोग के द्वारा कभी भी कामना परितृप्त नहीं होती, वरन् घृताहुति डाली हुई अग्नि की तरह वह बढ़ती ही जाती है।" सहस्र वर्षपर्यन्त विषय के उपभोग तथा सकाम कर्म के द्वारा ही ययाति को इस प्रकार का ज्ञान तथा वैराग्य उत्पन्न हुआ था।

प्रवृत्ति मार्ग मानो छत की सीढ़ी है। इसी का अवलम्बन कर निवृत्ति मार्ग रूप छत पर चढ़ना पड़ता है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि किसे किस प्रकार का कर्म करना चाहिए, इसका निर्णय कौन करेगा? केवल सद्गुरु ही इसका निर्णय कर सकते हैं। जैसी जिसकी

मानसिक अवस्था है, गुरु उसके लिए वैसे ही धर्म की व्यवस्था कर देते हैं।

गुरु बनाने के पहिले, गुरु की विशेष रूप से परीक्षा कर लेनी चाहिए। शास्त्र का यही सिद्धान्त है। गुरु-पुत्र को ही गुरु बनाना पड़ेगा, यह बात सत्शास्त्रानुमोदित नहीं है। शास्त्र का कथन है कि विशेष रूप से गुरु को परीक्षा करके ही उन पर विश्वास करना चाहिए। किन्तु एक बार विश्वास करने के बाद फिर किसी प्रकार का सन्देह करना निषिद्ध है। परमहंसदेव अपने बारे में कहा करते थे, "खूब ठोक-बजाकर देख लो।" उनकी विशेष रूप से पर्यालोचना करने पर हम देखते हैं कि वे शास्त्रविरुद्ध किसी भी कर्म का अनुष्ठान नहीं करते थे। उनका जीवन वेदान्त की टीका-स्वरूप है उनके सदृश धर्मवीर महापुरुषगण धर्मरक्षा के लिए ही अवतीर्ण होते हैं। हिन्दू, ईसाई इत्यादि सभी धर्मों के महापुरुषों ने एक स्वर से कहा है कि उन लोगों का आविर्भाव प्राचीन शास्त्र तथा धर्म के संरक्षण के लिए ही हुआ है, उन लोगों के शरीर-धारण का उद्देश्य किसी भी शास्त्र या धर्म का विध्वंस करना नहीं है।

निष्काम-कर्म का अर्थ है स्वार्थरहित होकर कर्म करना। निजत्व को भूलकर, अपने सुख की ओर ध्यान न देकर भगवान् के लिए कर्मानुष्ठान करते रहना। सभी अवस्थाओं में स्वार्थरहित होकर कर्म किया जा सकता है। स्वार्थरहित होकर कर्म करने का नाम ही कर्मयोग है। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या कभी पूर्णतः स्वार्थ का परित्याग किसी के लिए सम्भव हो सकता है? हम देखते

हैं कि किसी का स्वार्थ तो अपने शरीर तथा मन तक ही सीमित रहता है, किसी का अपने परिवार तक, किसी का देश तक और किसी का सम्पूर्ण जगत् तक विस्तृत है। एक बकरी के लिए बुद्धदेव अपने प्राण तक त्यागने को उद्यत हुए थे। इस पर कुछ लोग यह कहते हैं कि क्या उस कार्य में स्वार्थ नहीं पाया जाता? दूसरों के लिए इस प्रकार अपने प्राणों का बलिदान करने में जो आनन्द की प्राप्ति होती है, उनका वही स्वार्थ था। उत्तर में कहा जा सकता है कि इस प्रकार के परार्थमय स्वार्थ तथा निःस्वार्थ भाव में कोई भी अन्तर नहीं है। जिसकी मन-बुद्धि अपने ही शरीर-मन तक सीमित है, वास्तव में स्वार्थी तथा दया का पात्र वही है। अपने शरीर-मन की ओर ध्यान न देकर दूसरों के सुख में सुखी तथा दुःख में दुखी बनना, ऐसे स्वार्थ को निःस्वार्थता के नाम से ही पुकारा जाता है, क्योंकि इस प्रकार का स्वार्थ बन्धन का कारण न होकर मनुष्य को मनुष्य नाम के योग्य बनाता है तथा उसे भगवान् की ओर आगे बढ़ा देता है। मनुष्य जितना ही उन्नत होता जाता है, उतनी ही उसकी स्वार्थ-दृष्टि अपने शरीर मन इत्यादि की तुच्छ सीमा को अतिक्रमण कर उच्च से उच्चतर स्तरों में पहुँचती जाती है। अन्त में उसका क्षुद्र अहंकार एकदम दूर होकर, उसके स्थान में एक विराट महान् 'अहं' का आविर्भाव होता है, जिसका स्पन्दन समग्र जगत् में होने लगता है। इसे ही ब्रह्मज्ञानावस्था या मुक्ति कहते हैं।

हम तीन प्रकार से दूसरों की सहायता कर सकते हैं। किसी को भूख लगने पर अन्न देकर हम उसकी क्षुधा की निवृत्ति कर सकते हैं।

यह सहायता स्थूल शरीरविषयक तथा क्षणस्थायी है, छः घण्टे बाद फिर उसे भूख लगेगी तथा अभाव का अनुभव होने लगेगा। दूसरे — उसे हम इस प्रकार की शिक्षा दे सकते हैं, जिससे कि वह अर्थोपार्जन के द्वारा अपनी जीविका का सदा स्वयं निर्वाह कर सकता है। यह सहायता दीर्घकाल तक स्थायी तथा मानसिक है। तीसरी — आध्यात्मिक सहायता है। इसका फल और भी व्यापक है। इसके प्रभाव से उसके मन का सम्पूर्ण अभाव चिरकाल के लिए दूर हो जाता है। इस प्रकार की सहायता एकमात्र धर्मोन्नत महापुरुष ही कर सकते हैं।

एक दिन भगवान् ईसा धूप से पसीने में तर होकर एक कुएँ के समीप बैठे हुए थे। एक नीच जाति की स्त्री जल भरने आई। ईसा ने जब उससे पीने के लिये जल माँगा तब वह विस्मित होकर बोली — "क्या आप मेरे हाथ से जल पीयेंगे?"

प्रत्युत्तर में अपनी स्वीकृति प्रदान कर तथा जल पीकर उन्होंने कहा — "इसके बदले में जो जल मैं तुम्हें प्रदान करूँगा, उससे तुम्हारी तृष्णा सदैव के लिए मिट जायेगी।" ऐसे दृष्टान्त हमारे शास्त्र-वर्णित श्रीकृष्ण, बुद्ध इत्यादि अवतारों के चरित्रों में तथा पवहारी बाबा, त्रैलङ्गस्वामी इत्यादि सिद्ध-पुरुषों के जीवन में भी हमें देखने को मिलते हैं।

चाहे जिस कार्य का भी अनुष्ठान हम क्यों न करें, उसमें यह भावना होनी चाहिए कि इसे हम भगवान् के लिए कर रहे हैं, न कि अपने लिए। साधारणतया जो सड़क को झाड़ता है उसमें यदि ऐसी भावना हो कि वह सबको भगवान् का अंश समझकर

उनकी सेवा के लिए उस कार्य को कर रहा है, तो उस कार्य में उसे किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं होता। ऐसा कोई भी कर्म नहीं है, जो कि सम्पूर्णतः अच्छा हो या जिसमें दोष एकदम न हो। यह जो हम भगवच्चर्चा कर रहे हैं, इसके द्वारा सभी प्राणियों का उपकार हो रहा है, ऐसी बात नहीं। मुँह की गरम हवा से वायु में विचरण करनेवाले कितने ही कीटाणुओं का नाश हो रहा है। इस प्रकार सभी कर्म शुभाशुभ-मिश्रित होने पर भी निःस्वार्थ भाव से यदि उनका अनुष्ठान किया जाय, तो फिर कर्म-जनित दोष हमें स्पर्श नहीं कर सकते। शरीर-रक्षा के उपयोगी भोजन-विश्रामादि के सम्बन्ध में भी यदि ऐसा सोचा जाय कि इनका उद्देश्य शरीर की रक्षा मात्र है, शरीर रहने पर ही भगवत्प्राप्ति की साधना हो सकती है, अतः भगवत्प्राप्ति के लिए ही मैं इन कर्मों को कर रहा हूँ, तो ऐसी धारणा होने पर ये सब कर्म भी निष्काम ही माने जायेंगे। सभी कर्मों का अनुष्ठान इस प्रकार से किए जाने पर फिर कभी कर्मफल की ओर ध्यान नहीं जाता तथा उससे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख के द्वारा भी हमें विचलित नहीं होना पड़ता। इस प्रकार के कर्म बन्धन का कारण न होकर, कर्ता के मुक्ति के साधन बन जाते हैं।

हम पहिले ही कह चुके हैं कि कर्म अनादि है तथा शास्त्र में कर्म को ही जगत् की विषमता का कारण बतलाया गया है। यह विषमता कर्मजनित ही है। जिसका जैसा कर्म है, वह वैसी ही अवस्था को प्राप्त होता है। कुछ लोग इस विषमता का दूसरा ही कारण बतलाते हैं। उनके मतानुसार जन्म के समय ग्रहादिकों की

जिस प्रकार की शुभ या अशुभ स्थिति होती है, मनुष्य को वैसी ही अवस्था की प्राप्ति होती है। शुभ-ग्रह के रहने पर उत्तम योनि में तथा अशुभ-ग्रह के रहने पर नीच योनि में जन्म मिलता है। इसके उत्तर में यह प्रश्न किया जा सकता है कि किसी का शुभ ग्रह में और किसी का अशुभ ग्रह में जन्म होने का कारण ही क्या है? ये शुभाशुभ ग्रह मनुष्य के जन्म के गति-नियामक तो हो सकते हैं, किन्तु कारण नहीं बन सकते। इसका कारण अवश्य ही कुछ और है, जिससे कि मनुष्य को अशुभ जन्म मिलता है। शास्त्रानुसार जीव के पूर्व-जन्म का कर्म ही इसका एकमात्र कारण है। कुछ लोग पुनः यह कहते हैं कि पिता-माता की मानसिक तथा शारीरिक अवस्था ही सन्तान में संक्रमित होती हैं। यहाँ तक कि पिता-माता के रोग इत्यादि भी सन्तान में पाए जाते हैं। अतः पिता-माता ही पूर्वोक्त विषमता (Hereditary Transmission) के कारण हैं। उत्तर में कहा जा सकता है कि तब तो फिर सन्तान के जन्म से पिता-माता की मानसिक शक्ति का ह्रास होना चाहिए, किन्तु इस प्रकार का ह्रास तो देखने में नहीं आता। और कभी कभी तो साधारण शक्ति-सम्पन्न पिता-माता से अद्भुत गुणशाली सन्तान का जन्म होते देखा जाता है। इसका क्या कारण है? शुद्धोदन की तरह और भी अनेक क्षत्रिय राजा थे; किन्तु बुद्धदेव जैसे उदारहृदय, बाल्यावस्था ही से समाधि-मग्न सन्तान का जन्म और कहीं न होकर राजा शुद्धोदन के यहाँ ही क्यों हुआ? भगवान् बुद्ध, ईसा इत्यादि अवतारों की बातों को यदि छोड़ भी दिया जाय, तो भी साधारण मनुष्यों में इस प्रकार की घटनाएँ नित्य देखने में आती

हैं। ऐसी घटनाएँ कैसे होती हैं? कारण से कार्य तो कभी अधिक शक्तिसम्पन्न हो नहीं सकता, तो फिर इसकी मीमासा क्या है? केवल कर्मवाद में ही ऐसे प्रश्नों की मीमासा मिलती है। मानव का यह स्वभाव है कि जब तक दूसरे पर दोषारोप किया जा सकता हो, तब तक वह कभी भी अपने ऊपर दोष नहीं लेता। इसीलिए संसार में भगवान् या ग्रह-नक्षत्र अथवा पिता-माता इत्यादि को अपने दुःख-कष्टों का कारण कहकर वह निश्चिन्त हो बैठता है। अपने समस्त दुःख-कष्टों का कारण स्वयं वही है, यह मानना तो दूर रहा, भूलकर भी कभी वह इस बात को मन में नहीं लाता। तब शास्त्र ही उसकी आँखों में उँगली डालकर कहते हैं कि तुम्हारे दुःख-कष्टों के कारण स्वय तुम ही हो, कोई दूसरा नहीं। किन्तु उससे डरने की कोई बात नहीं है। जिस शक्ति के द्वारा तुम इस कष्ट को भोग रहे हो, उसी के द्वारा पुनः तुम उन्नत बन सकते हो। दुष्कर्म हो गया हो तो उससे डरने की क्या बात है? फिर से प्रयत्न करो, तुममें अनन्त-शक्ति निहित है। तुम्हारी इस दशा का अवश्य ही परिवर्तन होगा। वेद का कथन है—"द्रढिष्ठः बलिष्ठो मेधावी" पुरुष के लिए ही धर्म-लाभ होता है। साहस चाहिए, शक्ति चाहिए, निर्जीव मन तथा शरीर के द्वारा धर्म-लाभ नहीं हो सकता। निडर होकर पुनः प्रयत्न करो, कर्म का अनुष्ठान करो, निश्चय ही धर्म-पथ में अग्रसर हो सकोगे।

त्रयोदश अध्याय

कर्म-रहस्य

(रामकृष्ण मिशन सभा, १८ सितम्बर, १८९८ ई. ।)

फल की आकांक्षा को छोड़कर निःस्वार्थ भाव से जो कर्म किया जाता है, उसी का नाम कर्मयोग है। फलाकांक्षा से प्रेरित होकर कर्म किए जाने पर उसके फलस्वरूप सुख-दुःखादि का भोग अनिवार्य है। एक कर्म से पुनः दूसरा कर्म उत्पन्न होगा। इस प्रकार कर्म का भोग निरन्तर चलता रहेगा। अब यह प्रश्न हो सकता है कि यदि कर्म करने से ही उसका फल-भोग अवश्यम्भावी हो, तो फिर क्या मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं है? शास्त्र का कथन है कि अवश्य है। निष्काम होकर निःस्वार्थ भाव से कर्म का अनुष्ठान करो। कर्मफल की ओर दृष्टि न डालकर कर्म करते रहो। इसके द्वारा तुम्हें कर्मफल में लिप्त नहीं होना पड़ेगा। यह कह सकते हो कि क्या वासनारहित होकर कर्मानुष्ठान किया जा सकता है? किसी न किसी वासना से ही तो कर्म की उत्पत्ति होती है। भगवद्दर्शन की इच्छा भी तो एक प्रकार की वासना ही है। इसके उत्तर में परमहंसदेव जो कहा करते थे, उसे ही कहता हूँ, "भगवद्दर्शन की वासना वासना में नहीं गिनी जाती, जैसे कि मिश्री की गणना मिठाइयों में नहीं होती।" अर्थात् मिठाइयों के खाने में जो बुराइयाँ होती

नहीं होता। एक दिन, दो दिन, दस दिन इस प्रकार क्रमशः जब वह उदित होती रहती है; तब किसी दिन मन कह उठता है कि यह कार्य तो अवश्य ही होना चाहिए और फिर शरीर तथा इन्द्रियों को वह इस प्रकार से नियुक्त करता है कि जिससे उस कार्य में सफलता मिल सके। इस प्रकार की नियुक्ति को ही साधारणतया हम कर्म कहते हैं। अतः घनीभूत वासना ही कर्म के रूप में परिणत होकर मनुष्य के लिए सुख-दुःखरूप फल को उत्पन्न करती है और वह सुख-दुःखमय कर्म ही पुनः दूसरे एक सस्कार का उत्पन्नकर्ता बन जाता है। मन में सचित सूक्ष्म वासनासमूह का नाम ही संस्कार है। सबके संस्कार समान नहीं हैं। बाल्यावस्था से ही किसी में कोई संस्कार प्रबल होता है तो कोई कोई संस्कार किसी में एकदम होते ही नहीं। अच्छे संस्कार के वशीभूत होकर किसी ने जीवन भर सत्कार्य का ही अनुष्ठान किया, और कोई कुसस्कार से प्रेरित होकर कुकर्मों के अनुष्ठान के द्वारा लोगों की निन्दा का पात्र ही बना रहा; कोई तो बुद्धिमान, धार्मिक तथा यशस्वी बने और कोई ठीक इनके विपरीत।

संस्कारों में कहाँ से इतनी विभिन्नताएँ आ जाती हैं? जब बाल्यावस्था से ही हम किसी को भला और किसी को बुरा देख रहे हैं, तब वासना के घनीभूत होकर सत् या असत् संस्कार के रूप में परिणत होने का अवसर ही कहाँ है? अथवा कर्म तथा सस्कार ही यदि बीज-वृक्ष-न्याय के अनुसार ग्रथित तथा प्रवाहित हुए हों, तब ऐसे कर्म ही कहाँ हैं, जो कि बाल्यावस्था में ही सस्कार के रूप में उपस्थित हो सकते हों? शास्त्र का कथन है कि पूर्व-जन्म के किए हुए कर्म ही

बाल्यावस्था में संस्कार-रूप से प्रकट होते हैं। पूर्व-जन्म के सत् या असत् अभ्यास ही इस जन्म में भले या बुरे संस्कार के रूप में प्रकट होते हैं। इन्हीं बाल्य-संस्कारों को 'स्वभाव' मानकर विपरीत अर्थ की कल्पना करते हुए हम कभी भगवान् और कभी सृष्टि-प्रणाली को दोष देते हैं। कभी तो कारणरहित अर्थ में हम स्वभाव शब्द का प्रयोग करते हैं और कभी किसी अदृष्ट अननुभूत कारण के अर्थ में, जिसके हाथों में मनुष्य खिलौना मात्र है। इस प्रकार मानव कुसंस्कार के भार को ढोता हुआ घोर अदृष्टवादी बनकर या कार्यकारण-प्रवाह के मूलोच्छेदन के द्वारा नास्तिकता का मार्ग अवलम्बन कर यथार्थ सत्य वस्तु से बहुत दूर चला जाता है।

यदि कर्मवाद सत्य हो तो उसके साथ ही साथ पुनर्जन्मवाद की सत्यता भी अपने आप सिद्ध हो जाती है। मृत्युकाल उपस्थित होने पर आत्मा एक देह से दूसरी देह का आश्रय लेती है। स्थूल शरीर पड़ा रह जाता है, किन्तु उस जन्म के समस्त संस्कारों को लेकर सूक्ष्म शरीर तदनुरूप देह का गठन करता है। उसके पूर्व-जन्म के कर्मफल फिर उस नवीन शरीर में प्रकट होने लगते हैं। हम पहिले ही देख चुके हैं कि माता-पिता के गुण-दोष सन्तान के शरीर तथा मन में संक्रमित होते हैं। इसका कारण यह है कि सन्तान का कर्मफल उसे ऐसे पिता-माता की ओर आकृष्ट करता है कि जिनके द्वारा तदनुरूप गुण-दोष-विशिष्ट सस्कारों के विकासोपयोगी शरीर उसे मिल सके। शास्त्र का कथन है कि जिस प्रकार जोंक एक पत्ते से दूसरे पत्ते का आश्रय लेती है, उसी प्रकार हम भी एक कर्म से दूसरे कर्म में प्रवृत्त होते हैं। अतः कर्म का

अनुष्ठान इस प्रकार से करना चाहिए कि जिसके द्वारा हम क्रमशः निम्नतर कर्म से उच्चतर कर्म में पहुँच सकें। साथ ही जिस प्रकार जोंक दूसरे किसी का अवलम्बन किए बिना पहिले अवलम्बन को नहीं त्यागती, उसी प्रकार एक कर्म का आश्रय लिए बिना दूसरे कर्म को त्यागा नहीं जा सकता।

हीन कर्म से उन्नत कर्म का अवलम्बन कैसे किया जा सकता है? निम्नतर उद्देश्य को छोडकर महत्तर उद्देश्य का अवलम्बन करो। देखोगे कि तुम्हारा कर्म भी उच्चतर स्तर की ओर प्रवाहित होने लगा है। एकदम सर्वोच्च उद्देश्य का आश्रय लेकर कर्मानुष्ठान करने में यदि तुम अपने को असमर्थ पाते हो, तो हताश न बनो। शनैः शनैः धीरतापूर्ण दृढ़-पदविक्षेप तथा असीम साहस के साथ हमें भगवदनुग्रह एव साक्षात्कार-लाभ रूप जीवन के महान् उद्देश्य की ओर अग्रसर होना पड़ेगा।

हममें से बहुतेरे लोगों की ऐसी भ्रमात्मक धारणा बनी हुई है कि ससार में रहकर धर्मानुष्ठान नहीं हो सकता, भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। संसार किसे कहते हैं? जो वस्तु हमें ईश्वर की ओर अग्रसर नहीं होने देती, उसी का नाम ससार है। पूर्वजन्मकृत जो सस्कार हमें ईश्वर की ओर बढने नहीं देता, सत्यस्वरूप उद्देश्य से जो हमें निरन्तर विचलित करता रहता है, हमारे लिए वही ससार है। इस प्रकार भिन्न भिन्न व्यक्तियों के भिन्न भिन्न ससार विद्यमान हैं। किसी के लिए काम, किसी के लिए क्रोध, किसी के लिए अर्थ-चिन्ता ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में कण्टक-स्वरूप हैं। ऐसे विशेष विशेष सस्कारों से मन की

गति को लौटाने के लिए किसी महान् उद्देश्य का आश्रय लेना पड़ेगा। ऐसा करने पर जो कर्मस्रोत अभी तक हमें नीचे की ओर ले जा रहा था, उसकी गति परिवर्तित होकर दूसरी ओर प्रवाहित होने लगेगी तथा ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में जो पहिले बाधक था, वही फिर उसका सहायक बन जायेगा। संसार में रहकर ही इसका अनुष्ठान करना होगा। सभी में महाशक्ति विद्यमान है। अज्ञान से आवृत रहने के कारण ही इसका हम अनुभव नहीं कर पाते। शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का अपव्यय न कर उच्चतर मार्ग में उन्हें परिचालित करना होगा। तभी हम ईश्वर की ओर अग्रसर हो सकेंगे। हम यह देख चुके हैं कि कर्म में किसी प्रकार का दोष नहीं है। दोष केवल उस उद्देश्य में है जिससे प्रेरित होकर हम कर्मानुष्ठान किया करते हैं। कर्तव्यबुद्धि से कर्म करो, कर्मों के साथ प्रेम का नाता जोड़कर उनका अनुष्ठान करो, फल की ओर ध्यान न दो। तब कर्म हमें अवश्य ही ईश्वर की ओर ले जायेंगे। ईश्वर की सृष्टिलीला के अन्दर बन्धनमुक्त होने की और उन्हें प्राप्त करने की यह प्रणाली विद्यमान है। इस तरह उनकी ओर हमें अग्रसर होना पड़ेगा।

इस प्रकार से कर्म का अनुष्ठान करने पर कुछ दिनों में यथार्थ निःस्वार्थ भाव आ जायेगा। प्रश्न हो सकता है कि सम्पूर्ण निःस्वार्थ बन जाने पर क्या मनुष्य फिर कोई कर्म कर सकता है अथवा कर्म करता रहता है? शास्त्र का कहना है कि समुद्र जैसे गम्भीर और सुमेरु जैसे निश्चल व्यक्ति पूर्णतया स्वार्थरहित होकर केवल जगत् के कल्याणार्थ कर्मानुष्ठान करते रहते हैं, आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सभी को

साक्षात् भगवान् मानकर वे उस विराट पुरुष की सेवा किया करते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि यदि विशेष विशेष पिता-माताओं के द्वारा शरीरप्राप्ति का कारण हमारा कर्म ही हो, तो फिर अवतारादिकों के सम्बन्ध में जो ये शास्त्रीय प्रमाण मिलते हैं कि अपने पूर्वकालीन पार्षदों के साथ ही वे इस पृथिवी में अवतीर्ण होते हैं, उनकी पूर्वकालीन धर्मपत्नियाँ ही उनके साथ पुनः प्रकट होती हैं, उनमें इस प्रकार का नित्य सम्बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है? क्या यह सृष्टि-प्रणाली का कोई विशेष नियम है? कार्यकारणमय कर्म-प्रवाह का वेग जगत् में सर्वत्र ही विद्यमान है, उसमें विशेष नियम सम्भव ही कैसे हो सकता है? साथ ही मनुष्य-देह धारण कर मनुष्य को शिक्षा देने के लिए ही जब भगवान् अवतीर्ण होते हैं, तब अपने सम्बन्ध में किसी प्रकार का विशेष नियम-प्रवर्तन करने से उनके शिक्षा-प्रदान की सार्थकता ही कहाँ रहती है? उस शिक्षा को स्वल्पशक्ति भिन्ननियमाधीन मानव ग्रहण ही कैसे कर सकता है? पिता-माता, स्त्री-पुत्रादि के साथ तो हमारा कोई नित्य सम्बन्ध है नहीं, तो फिर अवतारादि के सम्बन्ध में यह कैसे सम्भव हो जाता है? इसका उत्तर यह है कि अवतार-पुरुषों के नित्यसङ्गियों ने उनके साथ निःस्वार्थ भाव से प्रेम किया था। इसीलिए वे उनके साथ नित्यसम्बद्ध हैं। हम स्वार्थ के लिए प्रेम करते हैं। पिता-माता, स्त्री-पुत्र इत्यादि सभी से हम अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही प्रेम करते हैं। पत्नी को सुख देना यदि हमारे प्रेम का उद्देश्य होता, तो हमारा सम्बन्ध भी नित्य होता। किन्तु क्या हम ऐसा करते हैं? प्रेम का स्वरूप स्वतन्त्रता है—न कि दासता। उसका स्वरूप

निःस्वार्थता है, न कि सुख-लालसा। किसी से यथार्थ प्रेम करना हो तो उसे सम्पूर्ण स्वतन्त्रता देनी होगी। उसके सुख की ओर ध्यान देना पड़ेगा। अपना सुख देखने से काम न चलेगा। किन्तु हम करते क्या हैं? जिनसे हम प्रेम करते हैं, उन्हें अपने ही आधीन बनाये रखना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि वे हमारा ही कहना मानें, जिसे हम अच्छा समझते हैं, उन्हें भी वही अच्छा प्रतीत हो। इस प्रकार हम उन्हें घोर बन्धन में आबद्ध करना चाहते हैं। इसीलिए हमारा सम्बन्ध भी निरन्तर छिन्न होता रहता है तथा हम परस्पर विभिन्न स्थलों में चले जाते हैं। विद्युतादि जड़ शक्तियों पर अपना अधिकार जमाने के लिए भी जब हमें उनके स्वभाव और कार्यप्रणाली इत्यादि का विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त कर तदनुसार आगे बढ़ना पड़ता है, तो फिर पूर्ण स्वतन्त्र-स्वभाव मानव-मन को क्या उसके स्वभाव के विरुद्ध वश में रखा जा सकता है? किसी न किसी दिन वह बन्धन उसके लिए असहनीय हो उठेगा तथा उसकी स्वभाव-निहित निद्रित शक्ति जागृत होकर समस्त बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर देगी।

इसी प्रकार का प्रेम हमारे देश में आजकल अत्यन्त प्रबल है। इसका दूसरा नाम दासता-बन्धन है। इसीलिए देश की भी इतनी दुर्दशा है। शास्त्र का कथन है कि समग्र जगत् एक सूत्र में बँधा हुआ है। इसलिए एक के अनिष्ट से दूसरे का भी अनिष्ट होता है। एक के दोष से दूसरा कष्ट पाता है। दूसरे के अमङ्गल होने पर हमें भी कष्ट भोगना पड़ता है। जब तक इस प्रकार का नियम विद्यमान है, तब तक दूसरों को आधीन बनाकर स्वयं ऊँचे बनने की चेष्टा

कभी भी सफल नहीं हो सकती। समग्र जगत् में स्वतन्त्रता का यह संग्राम जड़ से लेकर चेतनपर्यन्त अत्यन्त वेग के साथ चल रहा है। एक परमाणु दूसरे परमाणु से अलग होने का प्रयास कर रहा है। पृथ्वी सूर्य से, तथा सूर्य सूर्यान्तर से अलग होने की चेष्टा में तत्पर हैं। इसी स्वतन्त्र-भावना से प्रेरित होकर एवं यथार्थ मार्ग का ज्ञान न रहने के कारण चोर चोरी कर रहा है और साधु-सन्त, ईश्वर-कृपा से यह जानकर कि निःस्वार्थ विशुद्ध प्रेम ही स्वतन्त्रता लाभ करने का एक-मात्र उपाय है, दिन-प्रतिदिन जीवन के महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इसी स्वतन्त्रता-प्राप्ति का संग्राम मनुष्य को उच्च से उच्चतर सोपान में चढा रहा है तथा अन्त में पूर्ण ज्ञानभक्ति के द्वारा ईश्वर के साथ सम्मिलित कर उसे अनन्त शक्ति का अधिकारी बना रहा है। जगत् में कौन किसकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर सकता है? यदि तुम पत्नी, पुत्र, पिता, माता, बन्धु, गुरु इत्यादि के साथ नित्य सम्बन्ध से सम्बद्ध होना चाहते हो, तो अपने स्वार्थ का बलिदान कर उनके सुख में सुखी बनो। भगवान् की मूर्ति समझकर उनकी सेवा में तत्पर रहो। जगत् की समस्त स्त्रियों को देवी तथा पुरुषों को देवता-बुद्धि से देखने की चेष्टा करो और उनके प्रति उसी प्रकार सम्मान तथा भक्ति का भाव स्थापन करो।

अब वेदान्त के विवर्तवाद के विषय में कुछ कहकर आज के वक्तव्य को समाप्त करूँगा। इस सृष्टि को हम दो दृष्टिकोणों से देख सकते हैं। मनुष्य की ओर से देखने पर हमारे लिए यह सृष्टि, उसकी शक्ति, उसका क्रम, उसके नियम इत्यादि तथा पाप-पुण्य, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान

हिताहित इत्यादि सभी सत्य प्रतीत होते हैं। किन्तु यदि कल्पना की सहायता लेकर हम इस सृष्टि को ईश्वर के दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा करें, तब हम क्या देखते हैं? सृष्टि तथा सृष्टि के अन्दर तब किसी भी पदार्थ की विद्यमानता हमें दिखाई नहीं देती, क्योंकि यह सृष्टि तो भगवान् में ही विद्यमान है। उनसे अतिरिक्त इस सृष्टि में और कुछ भी नहीं है। अतः जगत् के विषय में किसी तरह ईश्वर जैसी दृष्टि को प्राप्त करने में यदि कोई समर्थ हो, तो फिर उसे यह जगत् कभी भी हमारी तरह दिखाई नहीं दे सकता। यदि जगत् को देखना हो तो अपने को जगत् से किंचित् पृथक् किए बिना कभी उसे देखा नहीं जा सकता। अतः जो सृष्टि तथा स्रष्टा के साथ सभी प्रकार से एकत्व का अनुभव कर रहे हैं, उनके लिए जगत् का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसी अवस्था को वेदान्त में विवर्तवाद के नाम से कहा जाता है, तथा इस अवस्था की प्राप्ति के लिए जगत् का अस्तित्व, पाप-पुण्य इत्यादि सभी को सत्य मान लेकर दीर्घ काल तक कर्म-भक्ति-ज्ञान-योगादि का अभ्यास अत्यन्त दृढ़ता के साथ करना चाहिए। तभी हमें परमात्मा के साथ सम्पूर्ण एकत्व का ज्ञान होगा। उस वर्णनातीत अवस्था की आलोचना इस समय अनावश्यक है।

चतुर्दश अध्याय

उपसंहार*

(रामकृष्ण मिशन सभा, २५ सितम्बर, १८९८ ई रविवार।)

पहिले जिन विषयों की आलोचना की गई है, सक्षेप में आज हम उन्हीं विषयों को फिर दोहराएँगे, क्योंकि ऐसा करने पर वे विषय और भी अच्छी तरह से मन में जम जायेंगे। हम पहिले ही यह देख चुके हैं कि वेद का अर्थ क्या है। वेद का अर्थ है ज्ञान — भगवान् का वह अनन्त ज्ञान जो कि उनके साथ अनन्त काल से चला आ रहा है। इसीलिए हमारे शास्त्र में वेद को अनादि कहा गया है। यद्यपि उसे हम पुस्तकाकार में लिखा हुआ पाते हैं, फिर भी उस पुस्तक का जो विषय है, वह तीनों ही कालों में वर्तमान है, उसका आदि नहीं है। किसी किसी भाग्यशाली के हृदय में यह अनादि ज्ञान आविर्भूत होता है। इस ज्ञान को जो प्रत्यक्ष करते हैं, उनको ऋषि कहा जाता है। ऋषि का अर्थ है मन्त्रद्रष्टा। किसी विशेष जाति या व्यक्ति के लिए ही यह ज्ञान आविर्भूत होता हो, यह बात नहीं, किन्तु यह देखा गया है कि म्लेच्छादि नीच जाति से उत्पन्न किसी किसी पुरुष में भी

---

* इस भाषण में रामकृष्ण मिशन सभा में दिए गए वेदचर्चा, सृष्टि-रहस्य, साधन निष्ठा, कर्म के दो रूप तथा कर्म-रहस्य — अपने इन भाषणों का वक्ता ने संक्षिप्त आलोचना के साथ उपसंहार किया है।

कभी कभी इस ज्ञान का आविर्भाव हुआ है। साथ ही वेद में अनेक स्त्रियों को भी ऋषि की संज्ञा दी गई है। इसी ज्ञान के प्रभाव से सत्यकाम आदि जैसे व्यक्तियों की गणना भी ऋषियों में की गई है, जिनका कि जन्म धर्मसंगत तथा विहित परिस्थिति में नहीं हुआ था। यह ज्ञान बिना जाति तथा वर्ण विचार के सभी के लिए प्रकट हो सकता है। पहिले वैदिक काल में ब्राह्मणत्व जातिगत माना जाता था, ऐसा मालूम नहीं होता। गुण के अनुसार ही उसका निरूपण हुआ करता था। वेद के विभिन्न स्थलों में ऐसी उक्तियाँ भी मिलती हैं कि पहिले सभी मनुष्य एक वर्ण के अन्तर्गत थे। कहीं कहीं इस प्रकार का भी उल्लेख पाया जाता है कि पहिले केवल क्षत्रिय वर्ण था और तत्पश्चात् ब्राह्मण वर्ण की सृष्टि हुई। इतिहास की पर्यालोचना के द्वारा यह बात सम्भव प्रतीत होती है। वेद के प्राचीन अंश ऋग्वेद में हम देखते हैं कि आर्य लोग पंचनद का गुण-गान कर रहे हैं तथा अपने पूर्व निवास-स्थान को अत्यन्त ठंडा बतला रहे हैं। नवीन देश में आकर उसके आदि-निवासियों के साथ कभी कभी वे युद्ध-विग्रह किया करते थे तथा धर्म या गुण के अनुसार सभी लोग स्वभावत: एक ही जाति के अन्तर्गत थे। तत्पश्चात् धर्मकार्य में नियुक्ति रहने तथा अधिक ज्ञान-सम्पन्न होने के कारण उनमें से कुछ लोग ब्राह्मण बने। पहिले-पहल ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि जातियों का उद्भव यज्ञोपासना, युद्ध-विग्रह आदि व्यक्तिगत स्वाभाविक गुणों के अनुसार ही सम्भव हो सकता है; क्योंकि गुण तथा कर्म के अनुसार ही जगत् में चिर-काल से जाति-विभाग वर्तमान है तथा आगे भी रहेगा। किन्तु मनुष्य

की ज्ञानोन्नति के साथ ही साथ जातिगत ब्राह्मणत्व का धीरे धीरे लोप होता जायेगा। साथ ही यह देखने में आता है कि विभिन्न जातियों में ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व इत्यादि गुण भिन्न भिन्न मात्रा में विद्यमान हैं। किसी जाति में ब्राह्मणत्व गुण अधिक है, जैसे कि प्राचीन आर्य लोग थे। आधुनिक यूरोप की जातियाँ क्षत्रियगुण-सम्पन्न हैं। अंग्रेज जाति में वैश्यगुण अधिक पाए जाते हैं। साथ ही किसी समय पृथ्वी में सर्वत्र किसी एक विशेष गुण की अधिक प्रबलता देखने में आती है। वर्तमान समय में वैश्यगुण का प्राधान्य है। वैश्य-गुणरहित व्यक्तियों की आजकल अधोगति हो रही है। जिन लोगों में उस गुण का प्राबल्य है, वे ही उन्नत बन रहे हैं। महाभारत में भी हम यही बात पाते हैं कि पहिले एक ही वर्ण था, तत्पश्चात् गुण-कर्म के अनुसार भिन्न भिन्न जातियाँ बनीं। भगवान् ने गीता में कहा है, "गुण तथा कर्म के विभाग के द्वारा ही मैंने चारों वर्णों की सृष्टि की है।" अतः सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति ही वेद के अधिकारी होते थे, तथा अब भी वैसा ही होना उचित है। हम यह देख चुके हैं कि वेद कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड इन दो भागों में विभक्त हैं। कर्मकाण्ड में यज्ञादि क्रियाओं के द्वारा स्वर्गादि प्राप्ति की बातें कही गई हैं। स्वर्ग शब्द का तात्पर्य पृथिवी की अपेक्षा किसी उच्चतर लोक से है, जहाँ कि दीर्घकाल तक सुख भोगने को मिलते हैं। इस प्रकार सुख भोगने के बाद पुनः मर्त्य लोक में आना पडता है। इन्द्र, वरुण, अग्नि इत्यादि हमारे शास्त्रोक्त देवता भिन्न भिन्न पद मात्र हैं। शास्त्र में हम देखते हैं कि कर्म के द्वारा ऊँची गति को प्राप्त होकर कोई कोई

इन्द्रादि बन गए हैं तथा कुछ दिन उन पदों में विद्यमान रहने के बाद फिर इसी पृथ्वी में उनका पतन हुआ है। अतः केवल मनुष्य ही कर्म के द्वारा देवत्व को प्राप्त कर सकता है। वेद के कर्मकाण्ड में स्वर्गादि लोक की प्राप्ति के उपाय बतलाए गए हैं, किन्तु स्वर्गीय सुख नित्य नहीं है। इसलिए उससे कभी मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता। मानव-मन नित्य वस्तु की प्राप्ति के लिए लालायित है। वेद के ज्ञानकाण्ड में उस नित्य पदार्थ का ही वर्णन है। हम यह देख चुके हैं कि शास्त्र में सृष्टि को अनादि बतलाया गया है। अन्यान्य धर्मों में सृष्टि अनादि नहीं मानी गई है। उनका कहना है कि ऐसा भी एक समय था, जब कि सृष्टि एकदम नहीं थी; ईश्वर ने सृष्टि की है। किन्तु वेद ऐसा नहीं कहता। सृष्टि का आदि है यह कहने से भगवान् में वैषम्य तथा नैर्घृण्य दोष उपस्थित होते हैं। जगत् में यह जो हम विषमता देख रहे हैं कि कोई पण्डित है तो कोई मूर्ख, कोई सुखी है तो कोई दुखी इत्यादि,—सृष्टि का आदि स्वीकार करने पर ईश्वर ही इनके कारण बन जाते हैं तथा उनमें पक्षपातित्व-दोष आ जाता है। साथ ही उनको निर्दयी भी कहना पड़ता है। सृष्टि अनादि होने पर भी उसकी विकासावस्था चिरकाल तक विद्यमान नहीं रह सकती। शास्त्र का कथन है कि बीज से वृक्ष तथा पुन. वृक्ष से बीज इस प्रकार सम्बन्धयुक्त होकर सृष्टि के ये दोनों भाव — प्रकट भाव एवं लुप्त भाव — अनादिकाल से प्रवाहित हो रहे हैं। जिस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म बीज से विशाल अश्वत्थ वृक्ष उत्पन्न होता है तथा वही वृक्ष पुन बीज-रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार यह सृष्ट जगत् भी कभी बीज-

रूप में तथा कभी प्रकट रूप में अवस्थित रहता है। भगवान् से इसका विकास है तथा भगवान् का ही यह अंश है, यह उनसे कोई पृथक् वस्तु नहीं है। गीतादि शास्त्रों में भी हम देखते हैं कि भगवान् कह रहे हैं कि जगत् उनका ही एक अंश मात्र है। सृष्टि जब अनादि ठहरी तब फिर इस विषमता का कारण क्या है? शास्त्र का कथन है कि इसका कारण कर्म है। अतः कर्म भी अनादि है। सभी को कर्म करना पड़ता है। कर्म किए बिना कोई भी नहीं रह सकता। कर्म के साथ उसका फल भी नित्य-सम्बद्ध है। कर्म करने से उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। तो फिर मुक्ति किस प्रकार से सम्भव हो सकती है? निःस्वार्थ होकर निष्काम भाव से कर्मानुष्ठान करने से कर्मफल के साथ लिप्त नहीं होना पड़ता, और पूर्ण निःस्वार्थता ही समग्र बन्धन को दूर कर देती है। इसी को कर्मयोग कहते हैं। यदि एक शब्द में कहना हो तो यही कहना पड़ेगा कि निःस्वार्थ बनना ही यथार्थ में धर्म है। चाहे कर्मयोगी हो या भक्तियोगी अथवा ज्ञानयोगी, सभी लोग निःस्वार्थ बनने के लिए प्रयत्नशील हैं। कोई तो 'अहं अहं' तथा कोई 'त्वं त्वं' के मार्ग से पूर्ण निःस्वार्थता की ओर बढ़ रहे हैं। तुच्छ स्वार्थमय 'अहं'-ज्ञान को सभी लोग विश्वव्यापी महान् 'अहं'-स्वरूप में निमज्जित कर देना चाहते हैं। कोई तो सर्व भूतों में उसी एक आत्मा को प्रत्यक्ष कर सबके अन्दर उसी महान् 'अहं' को देखने का प्रयास कर रहा है और कोई तुच्छ 'अहं'-ज्ञान का परित्याग कर एकमात्र भगवान् को ही सर्वत्र देखने की चेष्टा में तत्पर है। विचारपूर्वक देखने पर दोनों मार्गों का उद्देश्य एक ही प्रतीत होता है। हम यह देख चुके हैं कि कर्म में कोई

दोष नहीं है। हमारे मन के भाव या उद्देश्य को लेकर ही कर्म की भलाई-बुराई है। हम जिस भावना को लेकर कर्म का अनुष्ठान करते हैं, उसी भावना के अनुसार हमारा वह कर्म हमें उन्नत या अवनत बनाकर भले-बुरे के रूप में प्रतीत होने लगता है। किसी एक कर्म का आश्रय लिए बिना हम दूसरे कर्म का परित्याग नहीं कर सकते। हीन कर्मों का परित्याग करें उच्चतर कर्मों का अवलम्बन करने के लिए सदा प्रयत्नशील होना पड़ेगा। तभी शनैः शनैः हम निःस्वार्थ बन सकेंगे। जो अत्यन्त इन्द्रियाधीन है उसके लिये विवाह कर एक स्त्री में मन को आबद्ध रखना ही स्वार्थ-त्याग है, किन्तु इसके विपरीत संन्यासी के लिए विवाह अधिक स्वार्थपरता का ही परिचायक है। अतः जो कर्म एक के लिए निःस्वार्थ माना जाता है वही फिर दूसरे के लिए स्वार्थपूर्ण बन जाता है। चाहे कोई किसी भी अवस्था में क्यों न रहे, उस अवस्था से परमार्थ-पथ पर अग्रसर होने में उसे यदि कोई बाधा पहुँचाता हो तो वही उसके लिए संसार है। उसे उस संसार का परित्याग करना होगा। किसी के लिए काम, किसी के लिए क्रोध, किसी के लिए धन परमार्थ-मार्ग के कण्टक-स्वरूप हैं; उसको ही उसे त्यागना होगा। किन्तु उसको त्यागने से पहिले उसे और किसी उच्चतर विषय का अवलम्बन करना पड़ेगा। इस प्रकार उसे शनैः शनैः उच्च से उच्चतर अवस्था में पहुँचना होगा तथा निःस्वार्थ बनने के लिए प्रयत्न करना पड़ेगा। ऐसा करने पर ही हम क्रमशः ऐसी दशा में पहुँचेंगे जहाँ पूर्ण निःस्वार्थ होकर कर्मानुष्ठान कर सकेंगे। हम पहिले ही देख चुके हैं कि पूर्व-जन्मों के कर्मानुसार ही मानव दूसरे जन्मों में

उच्च-नीच देहादि को प्राप्त होता है। पहिले के किए हुए कर्मों के द्वारा मनुष्य ऐसे पिता-माता को प्राप्त करता है जो कि उसके लिए तदनुरूप दोष-गुणयुक्त देह प्रदान कर सकते हैं। अतः यद्यपि आपाततः यही प्रतीत होता है कि सन्तान में दोष-गुण सङ्क्रमित होने के लिये पिता-माता ही कारण हैं, किन्तु यह बात नहीं। वास्तव में सन्तान का कर्म ही ऐसे पिता-माता को ढूँढ लेता है। प्रश्न हो सकता है कि कर्म करने की शक्ति हमें कहाँ से मिलती है? हम यह देख चुके हैं कि यह स्थूल ब्रह्माण्ड एक विराट देह-स्वरूप है। हम लोगों के स्वल्पाकार शरीर उस विराट के ही अंश मात्र हैं। इसी प्रकार हमारे मन भी उस विराट मन के अंश मात्र हैं। अतः उस विराट शरीर तथा मन के द्वारा ही हमारे शरीर तथा मन की नित्य पुष्टि हो रही है। भोजन तथा श्वास-प्रश्वास के द्वारा जो भी कुछ हम ग्रहण करते हैं, वे सभी उस अनन्त विराट के ही अंश हैं। चाहे इसका ज्ञान हमें भले ही न हो, फिर भी हमारे मन की पुष्टि उसी प्रकार विराट मन से ही होती रहती है। नदी के भँवर में जिस प्रकार नवीन जल आता और निकलता जाता है परन्तु भँवर का रूप हमें बदलता हुआ नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार शरीर तथा मन हमारे लिए परिवर्तनरहित प्रतीत होने पर भी, उस विराट शरीर तथा मन से ही निरन्तर हम उनके उपादान लेते रहते हैं। इसीलिए शास्त्र का कथन है कि भगवान् की अनन्त शक्तियाँ सभी के अन्दर निहित हैं। उनसे ही हम अपनी अपनी शक्ति का ग्रहण तथा विकास कर रहे हैं। इस शक्ति का अपव्यय न कर ऊँचे से ऊँचे कार्यों में यदि हम उसे नियुक्त कर सकें, तो अवश्य ही हम जीवन के महान् लक्ष्य पर पहुँच सकेंगे।

पञ्चदश अध्याय

आप्त पुरुषों तथा अवतारों के जीवनानुभव

वेद ही हिन्दुओं की जातीय सम्पत्ति है, हिन्दुओं के आचार-व्यवहार, विश्वास-आस्तिक्य इत्यादि सभी विषयों का वह आधार-स्वरूप है। अपने जीवन-काल में वैदिक आचार का अनुष्ठान करते समय हिन्दू लोग अन्य देश, अन्य जाति तथा अन्य सभी धर्मों के आचारादि की उपेक्षा कर दिया करते हैं, तथा अन्तिम समय में जब मृत्यु का मोहान्धकार उपस्थित होकर इस जगत् के चिर-परिचित सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश इत्यादि सभी द्वन्द्वों की एक प्रकार की सामयिक समता उत्पन्न कर देता है, तब अज्ञात अपरिचित कल्पना-प्रसूत कराल परलोक की छवि को देखने के लिए वेदोक्त विश्वास तथा शिक्षा की सहायता से आशान्वित होकर वे उत्तप्त वैतरणी में कूद पड़ते हैं।

कहा जा सकता है कि यह बात आज कैसे सत्य हो सकती है? आज आहुतिसमुत्थित मेघोत्पादक यज्ञ-धूम ही कहाँ है? कहाँ हैं वे गोमेध, अश्वमेधादि यज्ञ? सोमरस को पान कर अर्ध-मुद्रित नेत्रों के दृष्टिपात द्वारा यजमानों का कल्याण करनेवाले मित्र, मरुत, पूषण, भग इत्यादि वे वैदिक देवता ही कहाँ हैं? कहाँ हैं वे सत्यनिष्ठ, अप्रतिग्राही, क्रिया-प्रवीण वेदज्ञ ब्राह्मण? कालरात्रि के प्रगाढ़ अन्धकार में वे मानो

इस प्रकार छिप गए हैं कि उनके अस्तित्व के विषय में भी सन्देह होने लगता है।

उत्तर में यह कहा जा सकता है कि युग-विपर्यय के कारण परिवर्तन के तीक्ष्ण प्रवाह द्वारा हिन्दुओं के वर्तमान आचार-व्यवहारादि की बारम्बार तोड़-मरोड़ होने पर भी, तथा नवीन रूप और भाव के अनुसार उनका पुनर्गठन होने पर भी बीच बीच में ऐसे दृश्य भी सामने आते हैं जिनसे भलीभाँति समझा जा सकता है कि उनका आधार पूर्व युग के आचार-व्यवहारादि ही हैं। एक के साथ दूसरे का सादृश्य विद्यमान है, जैसे कि वर्तमान सन्तति का सादृश्य अपने पूर्व-पुरुष की जाति, कुल तथा गुण के साथ पाया जाता है। आधुनिक भाषा के साथ अतीत की भाषा का भी ठीक वही सम्बन्ध है। दिनों-दिन प्राचीन तत्वों का जितना ही आविष्कार होता जा रहा है, उतनी ही यह बात अत्यन्त दूरस्थ मरीचिका राज्य को छोड़कर इन्द्रियग्राह्य प्रत्यक्ष राज्य के निकटतर होती जा रही है।

अत: वेद ही हिन्दुओं का एकमात्र आश्रय है, यह बात स्वत:-सिद्ध है। चाहे हम पृथिवी की अन्यान्य जातियों से उत्कृष्ट हों या निकृष्ट, फिर भी हमारे जातीय तत्व का मूल तो इस वेद में ही निहित है। इस[illegible] ही अवलम्बन कर हम पहिले उन्नत बने थे, एव फिर

शरीर के जो अंश प्रत्येक युग में समान रहते हैं, उनको ही हमारी जातीयता का मूल-स्वरूप माना गया है और माना जायेगा, तथा उस मूल-स्वरूप का किसी भी प्रकार से नाश हो जाने पर हमारे जातीय-जीवन की भी समाप्ति हो जायेगी। समाधि के द्वारा ज्ञान के उन्नत स्तर में आरोहण विषयक हिन्दुओं का विश्वास, भोग-सुख तथा वंश-वृद्धि में व्यय होनेवाली शक्तियों की ब्रह्मचर्य-अवलम्बन द्वारा मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों में परिणति तथा उसी उपाय के द्वारा इसी जीवन में मनुष्य के लिए देवत्व-प्राप्ति विषयक हिन्दुओं की धारणा, आत्मसंयम के द्वारा जातिगत तथा व्यक्तिगत पुरुषार्थ का विकास, त्याग से अमृतत्व की प्राप्ति, आत्मा का पूर्णत्व, अव्ययत्व तथा अविनाशित्व, कर्मफल की अवश्यम्भाविता इत्यादि हिन्दुओं के विविध विश्वास, जो कि वैदिक युग से लेकर अभी तक समान रूप से वंशपरम्परा के रूप में प्रवाहित होते आ रहे हैं, इन सब के लोप हो जाने पर दूसरी जाति से हमारी जाति की भिन्नता ही फिर कहाँ रहेगी? एवं ऐसा होने पर समग्र धर्म-शरीर के नाश के साथ ही साथ क्या हमारा अस्तित्व भी लुप्त नहीं हो जायेगा?

अब प्रश्न यह है कि वेद का वेदत्व किसमें है? किस शक्ति के प्रभाव से समस्त हिन्दुओं के मन में वह निरन्तर इस प्रकार का अद्भुत प्रभुत्व जमाए हुए है? योगिजनपरिसेवित, मुक्ति-राग-रञ्जित श्रुतियों के पादपद्मों में सौर, गाणपत्य, शैव, शाक्त इत्यादि अगणित सम्प्रदायों के भक्तिनम्र मस्तक क्यों झुके हुए हैं? निरीश्वरवादी कपिलादि महामुनिगण अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के प्रभाव से सभी विषयों का अतिक्रमण

होने पर भी इस विषय में हम पर कोई विजय नहीं पा सका है। हमारे ही धर्मवीरों के चरणों में नतमस्तक होकर अन्यान्य देश-वासियों को इस अपूर्व ज्योति का दान लेना पड़ेगा।

अपरिवर्तनीय देशकालातीत सर्वकारण-कारण नित्य सत्य की उपलब्धि पञ्चेन्द्रियों से असम्भव जानकर निर्भीक हिन्दू दार्शनिक 'मनोनिवृत्तिः परमोपशान्ति' रूप तीर्थवर्या मणिकर्णिका की खोज में तत्पर हुए तथा उसके आविष्कार के द्वारा स्वयं धन्य होकर उन्होंने दूसरों को भी कृतार्थ किया। समाधि का आश्रय लेकर उन्होंने यह उपलब्धि की कि साधारण मानव के सीमित ज्ञान तथा चैतन्य देशकालातीत एक असीम ज्ञानचैतन्य के आपेक्षिक विकास मात्र हैं, साथ ही उन्होंने इस बात का भी अनुभव किया कि गौआदि पशु, वृक्ष-गुल्म-लतादि तथा जिन वस्तुओं को मनुष्य सबसे अधिक जड़ समझता है, वे धातु-लोष्ठादि पदार्थ भी उसी ज्ञानचैतन्य के और भी निम्न स्तर के विकास मात्र हैं। अनन्त प्रकार से विभक्त यह जगत् तब उन्हें एक नवीन दीप्ति से देदीप्यमान होकर दृष्टिगोचर होने लगा, तथा "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान्" इस श्रुतिप्रतिपादित सत्य की उपलब्धि कर वे शाश्वत शान्ति को प्राप्त हुए। काम-काञ्चन रूपी अमा-निशा के प्रगाढ़ अन्धकार में संयतेन्द्रिय मार्गप्रदर्शक के रूप में एकमात्र वे ही जाग्रत रहे तथा मोहमुग्ध जनता को जाग्रत करने के लिए उन्होंने अभय तथा आश्वासनपूर्ण शिक्षा प्रदान की। इन्द्रियातीत पदार्थ का दर्शन लाभ कर वे ऋषि बने तथा देशकालातीत पूर्ण अनन्त परमधाम विषयक यथार्थ सत्य-संवाद प्रदान

करने के कारण उनकी वाणी की प्रसिद्धि वेद अथवा ईश्वरीय ज्ञान के रूप में हुई।

प्रश्न हो सकता है कि इसका क्या प्रमाण है कि समाधि में जिन विषयों की उपलब्धि होती है, वे मस्तिष्क के भ्रम अथवा किसी रोग से उत्पन्न प्रमाद नहीं हैं? उत्तर में कहा जा सकता है कि समाधि-दशा को प्राप्त होने से पहिले तुममें जिस प्रकार का ज्ञान, संयम, इच्छा-शक्ति, सुख-दुःखादि-द्वन्द्वसहिष्णुता इत्यादि विद्यमान थे, समाधि-लाभ के पश्चात् यदि उन गुणों का किञ्चिन्मात्र भी ह्रास न होकर अधिक से अधिक मात्रा में प्राबल्य पाया जाय, तो फिर उस दशा को तुम क्या कहोगे? साथ ही साथ, दिन-रात दौड़-धूप और नाना प्रकार के अभावों की पूर्ति की अथक चेष्टा करने पर भी मानव जिस शान्ति को पूर्ण रूप से नहीं प्राप्त कर पाता, वह शान्ति भी यदि तुम्हें रोग कही जानेवाली इस समाधि से सदैव के लिये प्राप्त हो जाय, तो ऐसा रोग तो परम वाञ्छनीय है।

परमहंस श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे कि वेद-पुराणादि जगत् के समस्त धर्मग्रन्थ मानो किसी पदार्थ के सूचीपत्र हैं, जैसे कि रसगुल्ले आदि मिठाइयों का सूचीपत्र होता है। यदि उस पदार्थ से तुम्हारा कुछ भी परिचय हो तो मिलाकर देख सकते हो कि तुम उक्त पदार्थ के किन किन रूपों से परिचित हो तथा किनसे नहीं। तब जिन रूपों की उपलब्धि तुम्हें नहीं हुई है, उनकी उपलब्धि के लिए प्रयास कर सकते हो। अतः यह बात नहीं कि केवल समाधि दशा की उपलब्धियों को ही यथासाध्य लिपिबद्ध कर वेद जगत्पूज्य बना हो,

किन्तु धर्मराज्य की निम्न से निम्न स्तर की दशा से लेकर सर्वोच्च स्तर की चरम सीमा निर्विकल्प समाधि तक प्राप्त करने के समय साधक के शरीर तथा मन में जिस प्रकार के परिवर्तन, अनुभव तथा उनके फलस्वरूप जिस प्रकार की धर्मविषयक धारणा, आस्तिक्य तथा विश्वासादि उपस्थित होते हैं, जगत् के कल्याणार्थ वेद ने यथासाध्य उनको भी लिपिबद्ध किया है। हमें उससे हानि-लाभ क्या है? धर्मराज्य में अग्रसर होने के लिए क्रमशः नाना प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन, नाना प्रकार के मत-मतान्तरों को सत्य मानकर उनमें विश्वास, नाना प्रकार की धारणा तथा अपनी सहायता के लिए बाह्य जगत् के विभिन्न पदार्थों का अवलम्बन आदि में से होकर ही मनुष्यमात्र को नित्य सत्य वस्तु को प्राप्त करना होता है। भीतर तथा बाहर के ये सब परिवर्तन, वृक्षविशेष की पत्तियों के रूप की तरह, प्रत्येक मानव में कुछ अंशों में भिन्न होने पर भी साधारणतया सर्वदा एक ही प्रकार के होंगे; क्योंकि अनेक में एक का विकास, एक की अनुस्यूतता ही सृष्टि का नियम है, एवं उसी एक से निखिल मानवीय ज्ञान का उद्भव हुआ है। अतः तुम्हारे अनुभूत विषयों के साथ पूर्व ऋषियों द्वारा अनुभूत तथा वेदादि धर्मग्रन्थ-निरूपित अनुभवों की समता यदि तुम्हें मिलती रहे, तो तुम निःसन्दिग्ध चित्त से अपने मार्ग में अग्रसर हो ध्येयवस्तु को प्राप्त कर कृतार्थ हो सकते हो।

धर्म-पथ में अग्रसर होने के लिए बीच बीच में साधक के शरीर तथा मन में जो आमूल परिवर्तन होते हैं, उनका ज्ञान पूर्व वैदिक तथा पौराणिक ऋषिगण, ऐतिहासिक युग के सिद्ध तथा साधकगण

तथा वर्तमान समय के धर्मवीरों की जीवनी की आलोचना के द्वारा विशेष रूप से प्राप्त किया जा सकता है। यमालय में जाकर नचिकेता का ब्रह्मज्ञान-लाभ, अग्नि की उपासना के फलस्वरूप सत्यकाम जाबालि की आचार्यत्व-प्राप्ति, राज्यशासन में लिप्त रहकर भी मिथिलाधिपति राजा जनक की विदेहत्व-उपलब्धि इत्यादि, सिद्ध पुरुषों के द्वारा किए गए अनुभव, अथवा किशोरावस्था ही में पूज्यपाद आचार्य शंकर के हृदय में अद्वैतानुभूति की स्फूर्ति एव तत्पश्चात् दूसरों के लिए धीरे धीरे उस ज्ञान को प्रदान करने की शक्ति का विकास, महामना ईसा का चालीस दिन का उपवास, गया-धाम में श्रीभगवत्-पादपद्म के दर्शन से श्रीगौराङ्गदेव में धर्मशक्ति की अभिव्यक्ति, तथा वर्तमान समय में द्वादश वर्षपर्यन्त कठिन तपश्चर्या के अनन्तर श्रीरामकृष्णदेव के शरीर में धर्मसमन्वय की अद्भुत शक्ति का विकास, इत्यादि घटनाओं से विदित होता है कि कितने देवासुर-सग्राम तथा जय-पराजय, कितनी आशा तथा निराशा, कितने आनन्द तथा विरह एवं कितने युगान्त परिवर्तनों के बाद उन जगद्गुरुओं को मानसिक समता की प्राप्ति हुई थी और साथ ही उनके देव-तुल्य शुद्ध-सत्व शरीरों में कितने अद्भुत परिवर्तन दिखाई दिए थे। इस प्रकार के इतिहास के कितने अध्याय हमें उपलब्ध हैं तथा उसकी रक्षा भी हम कहाँ तक कर पाए हैं? फिर भी, हमसे जो कुछ भी उसकी रक्षा हो सकी है, उसी के लिए जगत् आज कितना ऋणी तथा कृतार्थ है! भारत के धर्म-ग्रन्थों में इस प्रकार के इतिहास ही क्या अधिकतया नहीं पाए जाते? जगद्व्यापी एक कोलाहल मचा हुआ है कि भारतवर्ष का

कोई इतिहास नहीं है, भारत के लोग इतिहास लिखना नहीं जानते थे। अरे मूर्खो, श्याम को मरकर राम राजा बना, अनन्तर राम के दस लड़के हुए, उन्होंने बीस वर्ष तक राज्य किया और कुछ कानूनों का प्रवर्तन किया, किसी को पुरस्कार तथा किसी को दण्ड दिया, खाया-पीया, विवाद किया, आनन्द भोगा, कष्ट उठाया और अन्त में वे चल बसे — क्या यही तुम्हारा इतिहास है? इस इतिहास के रहने या न रहने से दुनिया का बनता-बिगड़ता ही क्या है? किन्तु जिन महापुरुषों की चिन्ता-धाराओं ने देशवासियों के हृदय पर अपना अधिकार जमाकर उनके जीवन का नवीन रूप से गठन किया हो, जिन विशाल हृदयों के प्रेम के द्वारा सभी लोगों को निःस्वार्थता की शिक्षा मिली हो तथा जिन महान् चरित्रों के आदर्श देशवासियों के नेत्रों में से होकर उनके हृदय के अन्तस्तल में पहुँचकर पत्थर में खुदी हुई मूर्ति की तरह चिर-उज्ज्वल बने हुए हों,— इतिहास का अर्थ यदि उन्हीं महापुरुषों की हार्दिक अनुभूति का इतिहास माना जाय, तो ऐसे इतिहासों की रक्षा तो विशेष रूप से भारत ने ही की है। वर्तमान युग में क्या इन्हीं इतिहासों से जागतिक धर्म-ज्ञान को समझने में विशेष सहायता नहीं मिल रही है?

उन्नत तथा उदार चिन्तापरम्पराओं को हृदय में धारण करने के फलस्वरूप मानव के शरीर तथा मन में विशेष परिवर्तन होते हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? वर्तमान युग के सभी विद्वानों ने इसे एक स्वर से माना है। विज्ञान की चर्चा जितनी अधिक होती जा रही है, उतना ही यह विश्वास सुदृढ़ बनता जा रहा है एवं उसके फलस्वरूप जर्मनी, अमेरिका इत्यादि देशों में एक अपूर्व तथा विचित्र तरीके से

मनोविज्ञान की चर्चा होने लगी है। इसका नाम परीक्षासिद्ध मनो-विज्ञान या Experimental Psychology है। प्रत्येक मानसिक परिवर्तन या भाव के अनुरूप एक एक शारीरिक, तथा प्रत्येक शारीरिक परिवर्तन से नित्य-सम्बद्ध एक एक मानसिक प्रतिक्रिया का आविष्कार करना ही इसका उद्देश्य है। किसी मित्र ने कहा था कि औषधि, राजनीति तथा धर्म के माँ-बाप नहीं हैं—समय आने पर सभी को आप ही आप इनका ज्ञान होने लगता है, प्रयासपूर्वक इनकी शिक्षा नहीं लेनी पड़ती। इन तीनों विषयों के सम्बन्ध में कहीं पर यदि कोई प्रश्न उपस्थित होता है तो वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति उसकी मीमांसा करने के लिए अधीर हो उठते हैं। मनोविज्ञान के बारे में भी, विशेष कर विदेशों की स्थिति अभी तक ठीक इसी प्रकार की थी। दिनों-दिन परीक्षासिद्ध मनोविज्ञान की चर्चा जितनी ही बढ़ रही है, उतनी ही कल्पना की प्रकाशान्धकारमिश्रित भ्रान्त-छाया इस क्षेत्र से दूर हट रही है, मानसिक गठन तथा कार्यप्रणाली के यथार्थ तत्वों का वास्तविक विकास हो रहा है एवं मनोविज्ञान यथार्थ विज्ञान पदवाच्य होकर प्रत्यक्ष-सिद्ध अन्यान्य शास्त्रों का समकक्ष होता जा रहा है।

प्रत्येक मानसिक भाव की एक एक शारीरिक प्रतिक्रिया होती है। साथ ही इसके विपरीत प्रत्येक शारीरिक परिवर्तन एक एक मानसिक परिवर्तन को लाकर उपस्थित करता है, यह भी सत्य है। चक्षुरादि पञ्चेन्द्रियों के पथ में बाह्य शक्तिविशेष के द्वारा पाँच प्रकार के शारी-रिक परिवर्तन उपस्थित किए जाने पर ही उनकी मानसिक प्रतिक्रिया-

स्वरूप रूप-रसादि पाँच प्रकार का ज्ञान हमें होने लगता है। साथ ही किसी विषयविशेष में तीव्र अभिनिवेश के फलस्वरूप पसीने का आना तथा मृदु-श्वास का चलना इत्यादि सभी को ज्ञात है। मन में सदा निष्ठुर चिन्तापरम्पराओं के जागरूक रहने के कारण चोर और हत्यारे इत्यादि व्यक्तियों की भीषण मुख-मुद्रा तथा उदार भावों को निरन्तर धारण करने के फलस्वरूप साधुओं की सौम्यमूर्ति भी प्रत्यक्ष-सिद्ध हैं। केवल कतिपय स्थूल परिवर्तनों की बातों का ही यहाँ उल्लेख किया गया है। इन के अतिरिक्त बाह्यशक्ति का इन्द्रिय-पथ पर आघात होने के फलस्वरूप और भिन्न भिन्न प्रकार से स्नायुओं के स्पन्दित होने के कारण स्नायु-कम्पन की तरगें समुद्रगामी नदियों की तरह मस्तिष्क की ओर चलने लगती हैं, तथा पूर्णचन्द्रालोड़ित समुद्रस्फीति जिस प्रकार तरङ्ग के रूप में नदी-गर्भ में प्रविष्ट होती है उसी प्रकार आत्मालोड़ित अन्तःकरण की लहरें पहिले मस्तिष्क में प्रविष्ट होकर स्थूल रूप को धारण करती हैं, तत्पश्चात् स्नायुओं में स्पन्दन उत्पन्न कर स्नायविक तरङ्ग के रूप में शरीरेन्द्रियों में सचरण करती हुई विभिन्न पदार्थ-विषयिका बुद्धि को उत्पन्न करती हैं,—इत्यादि बहुत सी बातें कही जा सकती हैं। स्नायु-मण्डल तथा मस्तिष्क की ये सब तरङ्गें शरीर-विज्ञान के आलोच्य विषय हैं। पाठक यदि जानना चाहें तो शरीर-विज्ञान विषयक ग्रन्थों में इसका अनुसन्धान कर सकते हैं। अन्तः-करण की तरङ्गों का आविष्कार करना तथा यथार्थ रूप से उनका अध्ययन करना ही मनोविज्ञान के विषय हैं।

इस प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक परिवर्तनों के फलस्वरूप

ही ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख, रोग-आरोग्य इत्यादि मानव की सारी अवस्थाओं का अनुभव होने लगता है। अपनी बुद्धि तथा कर्म के द्वारा मनुष्य चाहे जितनी भी उन्नत या अवनत दशा में क्यों न पहुँचे, उसके शरीर तथा मन की पूर्वोक्त परिवर्तन-रूप तरङ्ग-परम्परा के फल-स्वरूप ही ये दशाएँ आकर उपस्थित होती हैं, यह बात सुनिश्चित है। इन परिवर्तनों को मुख्यतया तीन-श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम — आदर्श के मूर्त-स्वरूप आप्त पुरुषों के शरीर तथा मन में अनुभूत होने के कारण जिन परिवर्तनों को मानव-मन के लिए विशेष उन्नति का परिचायक माना गया है, द्वितीय — जन-साधारण के लिए सदा प्रत्यक्ष अथवा स्वल्प प्रयास मात्र ही से प्रत्यक्ष होने के कारण जो साधारण उन्नति के परिचायक हैं, और तृतीय वे हैं, जो कि रोगी, डाकू, लम्पटादि निम्न स्तर के मानवशरीर तथा मन में नियत रूप से अनुभूत होने के कारण उनकी नीचता के परिचायक हैं। इनमें से तृतीय श्रेणी के अन्तर्गत परिवर्तनों का निर्णय करना ही शारीर-विज्ञान का विषय है। द्वितीय श्रेणी के परिवर्तन आधुनिक यूरोपीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत हैं और प्रथम श्रेणी के परिवर्तन वेद तथा जगत् के अन्य सब धर्मग्रन्थों में निबद्ध पाए जाते हैं। इनमें भारतीय मनोविज्ञान की कुछ विशेषता है। उसके अनुसार प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत परिवर्तन मनुष्य के द्वारा अनुभव किए जानेवाले नित्य 'ईश्वरीय ज्ञान' के परि-चायक माने जाते हैं, और उस प्रकार की अवस्था को प्राप्त करना ही समग्र सृष्टि तथा मानव-जीवन का एकमात्र चरम लक्ष्य है, यह जानकर द्वितीय तथा प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत परिवर्तनों के कुछ अंशों को उसमें

स्वरूप रूप-रसादि पाँच प्रकार का ज्ञान हमें होने लगता है। साथ ही किसी विषयविशेष में तीव्र अभिनिवेश के फलस्वरूप पसीने का आना तथा मृदु-श्वास का चलना इत्यादि सभी को ज्ञात है। मन में सदा निष्ठुर चिन्तापरम्पराओं के जागरूक रहने के कारण चोर और हत्यारे इत्यादि व्यक्तियों की भीषण मुख-मुद्रा तथा उदार भावों को निरन्तर धारण करने के फलस्वरूप साधुओं की सौम्यमूर्ति भी प्रत्यक्ष-सिद्ध हैं। केवल कतिपय स्थूल परिवर्तनों की बातों का ही यहाँ उल्लेख किया गया है। इन के अतिरिक्त बाह्यशक्ति का इन्द्रिय-पथ पर आघात होने के फलस्वरूप और भिन्न भिन्न प्रकार से स्नायुओं के स्पन्दित होने के कारण स्नायु-कम्पन की तरगें समुद्रगामी नदियों की तरह मस्तिष्क की ओर चलने लगती हैं, तथा पूर्णचन्द्रालोडित समुद्रस्फीति जिस प्रकार तरङ्ग के रूप में नदी-गर्भ में प्रविष्ट होती है उसी प्रकार आत्मालोडित अन्त.करण की लहरें पहिले मस्तिष्क में प्रविष्ट होकर स्थूल रूप को धारण करती हैं, तत्पश्चात् स्नायुओं में स्पन्दन उत्पन्न कर स्नायविक तरङ्ग के रूप में शरीरेन्द्रियों में सचरण करती हुई विभिन्न पदार्थ-विषयिका बुद्धि को उत्पन्न करती हैं,—इत्यादि बहुत सी बातें कही जा सकती हैं। स्नायु-मण्डल तथा मस्तिष्क की ये सब तरङ्गें शारीर-विज्ञान के आलोच्य विषय हैं। पाठक यदि जानना चाहें तो शारीर-विज्ञान विषयक ग्रन्थों में इसका अनुसन्धान कर सकते हैं। अन्तः-करण की तरङ्गों का आविष्कार करना तथा यथार्थ रूप से उनका अध्ययन करना ही मनोविज्ञान के विषय हैं।

इस प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक परिवर्तनों के फलस्वरूप

कही है। यहाँ पर "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" वाली कहावत चरितार्थ नहीं होती। इस विषय में सभी एकमत हैं। वैदिक ऋषि-परिसेवित 'महावाक्य चतुष्टय,' परम तेजस्वी बुद्धदेव प्रचारित 'महानिर्वाणावस्था', शिवावतार शंकर घोषित 'सोऽहं ज्ञानावस्थान', मधुर वृन्दावन में माधव के चरणों में सब कुछ न्यौछावर कर देनेवाली तन्मय गोपिकाओं का अपने में श्रीकृष्णज्ञान, पितृभाव के ज्वलन्त आदर्श-स्वरूप महात्मा ईसा का जगत्पिता के साथ एकत्व-बोध इत्यादि सभी अनुभवों का सार उपास्य-उपासक के मिलनजनित द्वैत-वर्जित एक ही अवस्थाविशेष है, यह बात स्पष्ट है। उस अवस्था में किसी प्रकार की भिन्नता न रहने पर भी, वहाँ पहुँचने के मार्ग भिन्न भिन्न हैं। उदारचरित वैदिक ऋषिगण तथा सभी अवतारों से इस बात का आभास मिलता है। यास्ककृत 'निरुक्त' की आप्तपुरुष विषयक आलोचना में कहा गया है कि आर्य तथा म्लेच्छ उभय जाति के ही व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के द्वैतवर्जित अवस्था के अनुभव के द्वारा आप्तत्व को प्राप्त कर सकते है।

उक्त आलोचना के द्वारा हमें यह विदित हुआ कि आप्तवाक्य का यथार्थ अर्थ क्या है, तथा 'म्लेच्छजाति में उत्पन्न होनेवाले पुरुषों के वाक्य भी वेद के रूप में ग्राह्य हो सकते हैं,'—यह बात भी ऋषियों की उक्तियों से स्पष्ट है। साथ ही यहाँ पर इस बात की सत्यता का भी अनुमान किया जा सकता है कि निर्विकल्प समाधि दशा में उप-लब्ध विषय अभिन्न होने पर भी उसमें पहुँचने के मार्ग सदा ही नाना तथा भिन्न बने रहेंगे। जगत् कभी भी एक धर्ममतावलम्बी न होगा,

यथार्थतया अध्ययन करने की चेष्टा की गई है। इसीलिए भारतीय दार्शनिकों ने वेद-निबद्ध उस प्रकार के परिवर्तनों तथा अनुभवों के इतिहास को "पुरुषनिःश्वसित, आप्तवाक्यादि" नाम से अभिहित किया है। अतः भारतीय-दर्शन साधारण मानवीय अनुभवों पर निर्भर न होकर प्रदीप्तमहिम महापुरुषों की उपलब्धियों पर आश्रित है। इसलिए केवल कल्पना या अनुमान की सहायता से नहीं किन्तु अन्यान्य देशों के दर्शनों की तरह प्रत्यक्ष अनुभूति को आधार बनाकर ही भारतीय दर्शनों की रचना की गई है। यूरोपीय दार्शनिक कल्पना या अनुमानप्रसूत कहकर भारतीय दर्शनों को चाहे जितनी भी घृणा की दृष्टि से क्यों न देखें, वास्तव में यह तो आप्त-पुरुषों की अवस्थाविषयक उनकी अज्ञता तथा आप्त-वाक्यों में उनकी श्रद्धाहीनता का ही परिचायक है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जगत् के धर्मग्रन्थों में वर्णित धर्मवीरों के अनुभव तो सर्वथा विभिन्न हैं, तो क्या उनमें सर्वजनप्रत्यक्ष ऐसा कोई साधारण आधार पाया जाता है जिस पर मनोविज्ञान अपनी भित्ति स्थापित कर खड़ा हो सके? विभिन्नता में जब तक एकत्व का आविष्कार न होगा, तब तक कोई विषय विज्ञान-राज्य के अन्तर्गत हो ही कैसे सकता है? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि निर्विकल्प समाधि-दशा के अनुभव तथा तत्कालीन शारीरिक अवस्थान सभी के लिए सदा समान होते आए हैं, यह बात धर्मेतिहास-प्रसिद्ध है। परमहंस श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, "जैसे सब गीदड़ों की एक-सी आवाज होती है," उसी प्रकार निर्विकल्प समाधि दशा में अनुभूत विषय के सम्बन्ध में सभी ऋषि तथा अवतारों ने एक ही बात

कही है। यहाँ पर "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" वाली कहावत चरितार्थ नहीं होती। इस विषय में सभी एकमत हैं। वैदिक ऋषि-परिसेवित 'महावाक्य चतुष्टय,' परम तेजस्वी बुद्धदेव प्रचारित 'महानिर्वाणावस्था', शिवावतार शंकर घोषित 'सोऽहं ज्ञानावस्थान', मधुर वृन्दावन में माधव के चरणों में सब कुछ न्यौछावर कर देनेवाली तन्मय गोपिकाओं का अपने में श्रीकृष्णज्ञान, पितृभाव के ज्वलन्त आदर्श-स्वरूप महात्मा ईसा का जगत्पिता के साथ एकत्व-बोध इत्यादि सभी अनुभवों का सार उपास्य-उपासक के मिलनजनित द्वैत-वर्जित एक ही अवस्थाविशेष है, यह बात स्पष्ट है। उस अवस्था में किसी प्रकार की भिन्नता न रहने पर भी, वहाँ पहुँचने के मार्ग भिन्न भिन्न हैं। उदारचरित वैदिक ऋषिगण तथा सभी अवतारों से इस बात का आभास मिलता है। यास्ककृत 'निरुक्त' की आप्तपुरुष विषयक आलोचना में कहा गया है कि आर्य तथा म्लेच्छ उभय जाति के ही व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के द्वैतवर्जित अवस्था के अनुभव के द्वारा आप्तत्व को प्राप्त कर सकते हैं।

उक्त आलोचना के द्वारा हमें यह विदित हुआ कि आप्तवाक्य का यथार्थ अर्थ क्या है, तथा 'म्लेच्छजाति में उत्पन्न होनेवाले पुरुषों के वाक्य भी वेद के रूप में ग्राह्य हो सकते हैं,'—यह बात भी ऋषियों की उक्तियों से स्पष्ट है। साथ ही यहाँ पर इस बात की सत्यता का भी अनुमान किया जा सकता है कि निर्विकल्प समाधि दशा में उपलब्ध विषय अभिन्न होने पर भी उसमें पहुँचने के मार्ग सदा ही नाना तथा भिन्न बने रहेंगे। जगत् कभी भी एक धर्ममतावलम्बी न होगा,

परन्तु समय आने पर भगवान् श्रीरामकृष्णदेव प्रचारित "जितने मत उतने ही पथ" इस वाणी की सत्यता की उपलब्धि कर सभी लोग पारस्परिक विद्वेषभाव को त्याग देंगे।

महापुरुषों की प्रत्यक्ष उपलब्धि जिस प्रकार भारतीय दर्शन का आधार है, उसी प्रकार धर्म का भी। इसीलिए भारत में दर्शन तथा धर्म के आधार भिन्न भिन्न नहीं माने गए हैं। धर्म को संसार से पृथक् कर भारतीय ऋषियों ने यह नहीं माना है कि मनुष्य चाहे तो उसका अनुष्ठान कर भी सकता है और नहीं भी। उनकी दृष्टि में समग्र जगत् में धर्म का ही अधिकार माना गया है। उनके मत में धर्म या मुक्ति को प्राप्त करना ही समग्र सृष्टि का चरम लक्ष्य है। प्रत्येक कार्य के अनुष्ठान के द्वारा मनुष्य को अपने जीवन में जो अनुभूति मिल रही है, उसी के आधार पर सरल या कुटिल मार्ग का अवलम्बन कर वे सभी उस एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं। धर्म एक अवस्था-विशेष है, मनुष्य के शौक का विषय नहीं। अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के अनुष्ठान, सुखदायी-दुःखदायी उभय प्रकार के कार्य, सुख-दुःख दोनों तरह की अनुभूति, आस्तिकता-नास्तिकता इत्यादि नाना प्रकार के विश्वास तथा धारणाओं में से होकर अन्त में चरमोन्नति के फलस्वरूप धर्म या मुक्ति मानव-जीवन में आकर उपस्थित होती है एवं तभी मानव स्वयं धन्य होकर जगत् को भी पवित्र कर देता है।

यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि आप्त-पुरुषों के जीवनानुभव की आलोचना विशेष फलप्रद है। यथार्थ ज्ञान, चाहे जिस विषय का ही क्यों न हो, मनुष्य के पूर्वकृत कर्म के कुछ अंशों को वह जला देता है;

क्योंकि संस्कार या पूर्वानुष्ठित अभ्यास के द्वारा ही मनुष्य को कर्म में प्रेरणा मिलती है, एवं वस्तुविशेष की विपरीत धारणा से ही संस्कार-विशेष की उत्पत्ति होती है। सर्प के दशन-स्वभाव को न जानकर ही अबोध बालक अपने सामने स्थित सर्प को पकड़ना चाहता है। पञ्चेन्द्रिय तथा मन के सीमित स्वभाव का ज्ञान न रहने के कारण मानव उनके द्वारा ही नित्य सत्य की उपलब्धि का प्रयास करता है एवं उनसे विशुद्ध सुखलाभ असम्भव है, यह न जानकर ही वह उसके अन्वेषण में सदा दौड़-धूप करता रहता है। अतः इन विपरीत धारणाओं के बदले यदि किसी प्रकार तत्तत्-वस्तुविषयक यथार्थ ज्ञान का उदय हो जाय, तो फिर अज्ञानजनित संस्कार तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले प्रयत्न इत्यादि नष्ट हो जायेंगे, इसमें सन्देह ही क्या है? उसी प्रकार पूर्ण ज्ञानानुभव के द्वारा सभी प्रकार के संस्कार और उनसे उत्पन्न होनेवाले निखिल कर्मों का आत्यन्तिक नाश हो जाना भी स्पष्ट ही है। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है, "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।" अतः "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते", मानव को पवित्र बनाने के लिए ज्ञान के सदृश और कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है। साथ ही वस्तुविषयक यथार्थ ज्ञान ही मनुष्य को अद्भुत शक्तिशाली बना देता है, यह भी प्रत्यक्ष-सिद्ध है। चोर तथा लम्पटादि की नीच प्रवृत्तियाँ उनके शरीर तथा मन में क्यों उपस्थित होती हैं, इसका कारण ढूंढ़ने के लिए मानो तुम प्रवृत्त हुए। तुमने पहिले यह देखा कि जिन विषयों में उन लोगों की ऐसी घृणित प्रवृत्तियाँ उदित होती हैं, वे विषय उनके सम्मुख उपस्थित होते ही

उनके शरीर के बहिरन्तरवार्तावाही स्नायुसमूह चिरकालीन अभ्यास से प्रेरित होकर शरीरस्थ हृद्-यन्त्रादि की तरह मानसिक इच्छा-शक्ति के प्रयोग के बिना ही अपने आप क्रियाशील हो उठते हैं, तथा इसके फलस्वरूप कैसे घृणित कार्यों को वे करने जा रहे हैं, यह विशेष रूप से अनुभव करने से पूर्व ही वे उन कार्यों को कर बैठते हैं। साथ ही तुमने यह भी देखा कि उन्हीं कार्यों को विशेष पुरुषत्व-व्यञ्जक समझकर वे लोग गर्वानुभव किया करते हैं तथा उनकी ऐसी धारणा बनी हुई है कि उन कार्यों के अनुष्ठान के द्वारा उन्हें विशेष आनन्द की प्राप्ति होगी, और अन्त में तुमने देखा कि उस प्रकार की धारणा ही के कारण उन कार्यों को न करने की इच्छा उनमें एकदम नहीं है। इन विषयों से तुम्हें यह ज्ञात हुआ कि उन लोगों को ऐसे कार्यों से मुक्त करने के लिए इस प्रकार की शिक्षा देने की आवश्यकता है जिससे कि उनके शरीर उन कार्यों के विपरीत अभ्यासों को अपना सकें। यदि ऐसा करना हो, तो पहिले उनको ऐसे स्थान में रखना होगा जहाँ पर प्रलोभन के कोई भी विषय उनके सम्मुख अनायास उपस्थित न हो सकें। अनन्तर तुम्हें यह अनुभव हुआ कि उन कार्यों को पुरुषत्व-व्यजक तथा आनन्दजनक मान बैठना ही उनके पूर्व अभ्यासों का कारण है। तुमने यह देखा कि उन वस्तुओं के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा के वशीभूत होकर ही वे उस प्रकार के कार्यों को करने के अभ्यस्त हुए हैं तथा अभी तक उनको कर रहे हैं। अत उन कार्यों से उन्हें मुक्त करने के लिए तुम्हें ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे पूर्वोक्त भ्रान्त धारणा के बदले उन्हें तद्विषयक यथार्थ

ज्ञान की प्राप्ति हो सके। उन कार्यों को करने से दुःख अवश्यम्भावी है इस बात को प्रमाणित कर मानो तुम किसी समय उनकी धारणाओं को बदलने में समर्थ हुए। तो फिर इसके फलस्वरूप भविष्य में उनके वे सब कार्य स्वयं ही परित्यक्त हो जायेंगे, यह भी क्या बतलाने की आवश्यकता है? जैसे वृक्ष के मूल को काट देने से उसका बचना असम्भव होता है, वैसे ही भ्रान्त धारणा के नष्ट हो जाने के फलस्वरूप उन सब कार्यों का अस्तित्व भी मिट जाता है। अतएव इससे यह स्पष्ट है कि इन सब नीच मानव-मन के कार्यकलाप सम्बन्धी ज्ञान के होने पर ही तुम्हें उन सब मन में परिवर्तन करने की शक्ति प्राप्त हुई।

आप्त-पुरुषों के अनुभव, स्वभाव तथा चेष्टादि की आलोचना भी ठीक उसी प्रकार हमें शक्तिशाली बनाती है; साथ ही जगत् तथा मानव-जीवन के सम्बन्ध में किस प्रकार की धारणा के फलस्वरूप उनकी उस प्रकार निःस्वार्थ चेष्टाएँ होती हैं, यह भी हम समझ पाते हैं। अशान्तिपूर्ण मानव-जीवन में उनकी अपूर्व शान्ति एवं शोक-दुःख-आनन्दादि में उनकी अपूर्व अविचलित अवस्था को देखकर उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए हम लोगों में अनुराग की भावना उत्पन्न होती है। साथ ही, उनके जीवन का अदृष्टपूर्व शक्ति-विकास, इस बात का दिग्दर्शन करके कि उनकी स्थिति साधारण मानवों की अपेक्षा बहुत ही उन्नत स्तर की है, मानव-जीवन के वास्तव लक्ष्य को हमारी आँखों के सामने लाकर उपस्थित कर देता है। पर हमें श्रद्धा के साथ उनके जीवन की आलोचना करनी चाहिए, क्योंकि किसी विषय में ज्ञान-

लाभ करने का एकमात्र उपाय श्रद्धा ही है। श्रद्धा-विरहित मन में उन विषयों की आलोचना करने की कोई आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति"—श्रद्धा-विरहित संशयात्मा अज्ञानी मानव नष्ट हो जाता है अर्थात् सत्य को वह प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि श्रद्धा के अभाव से ही नाना प्रकार के संशय आकर उपस्थित होते हैं तथा मानव के लिए ज्ञान-प्राप्ति में वे बाधक बन जाते हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि तब क्या किसी भी विषय में शंका नहीं लानी चाहिए? जो कोई भी जो कुछ कहे, आँख-कान मूँदकर उस पर ही विश्वास कर लेना चाहिए? नहीं, यह बात नहीं है। सत्य को प्राप्त करना होगा, इस प्रकार का दृढ संकल्प कर श्रद्धा के साथ सभी विषयों का अनुशीलन करो एवं जब तक उन विषयों को सम्पूर्ण रूप से समझ न सको तथा जब तक उन्हें पूर्णतया परख न सको तब तक नाना प्रकार के प्रश्न तथा प्रयत्नादि करते रहो। इसे संशय या शंका नहीं कह सकते। परीक्षा किए बिना किसी विषय में मिथ्या धारणा कर लेना तथा उसकी उपेक्षा कर देना ही यहाँ पर संशय शब्द का तात्पर्य है। उसी का त्याग करना चाहिए।

और एक बात यह है कि शास्त्र का कथन है कि आप्तावस्था अर्थात् जिस अवस्था को प्राप्त कर मनुष्य ज्ञान की चरम सीमा में पहुँचकर अतीन्द्रिय पदार्थ को देखने में समर्थ होता है, दूसरों के ज्ञान का विषय नहीं है, वह पूर्णतया स्व-संवेद्य है। उस अवस्था में जो पहुँच चुके हैं, वे ही उसे जान तथा समझ सकते हैं। यद्यपि यह

वात सत्य है, फिर भी शास्त्र का यह कहना है कि आप्त पुरुषों के वाह्य प्रकाश को देखकर हमें उनके उन्नत स्वभाव का ज्ञान होने लगता है, एवं उनके अनुभवादि की आलोचना ही अज्ञ मनुष्यों के लिए उस अवस्था को प्राप्त करने का प्रधान साधन है, इस वात को पतञ्जलिप्रमुख ऋषियों ने एक स्वर से माना है। किन्तु जब तक उस अवस्था को हम प्राप्त नहीं करते, तब तक उनके मानसिक गठन तथा कार्यप्रणाली को हम पूर्णतया समझ भी नहीं सकते, इस वात में सन्देह ही क्या है?

श्रीकृष्ण-बुद्धप्रमुख अवतार-पुरुषों के जीवनानुभव आप्त-पुरुषों की अपेक्षा भी अत्यधिक विचित्र तथा उच्चतर दशा के हैं। इसलिए उनकी चेष्टाओं को ऋषियों ने "लीलाविलासादि" नाम से अभिहित किया है तथा उन चेष्टाओं की अधिष्ठान-भूमि — उनके शरीरेन्द्रि-यादि को भी उन्होंने शुद्ध-सत्वगुण-निर्मित माना है। भगवान् श्रीराम-कृष्णदेव कहा करते थे, "जैसे टाँके के विना आभूषण नहीं वनते अर्थात् आभूषण वनाने के लिए सोने-चाँदी इत्यादि वहुमूल्य धातुओं में जिस प्रकार ताँवा आदि निकृष्ट धातुओं को मिलाना पड़ता है, अन्यथा उनका निर्माण नहीं हो सकता — उसी प्रकार रजोगुण तथा तमोगुण के कुछ अंशों के विना मनुष्य-शरीर का गठन भी असम्भव है।" अतः यह सत्य है कि अवतार-शरीर-गठन में भी रजोगुण तथा तमोगुण स्वल्प मात्रा में विद्यमान हैं, किन्तु वे इतने अल्प हैं कि उस ओर ध्यान न देकर उनके शरीर-मन की चेष्टादि को शुद्धसत्वगुण-प्रसूत कहा जा सकता है।

सदा से ही मनुष्य यह विश्वास करता चला आ रहा है कि अवतारवर्ग जगत्कर्ता ईश्वर के ही अंश हैं, अत: ईश्वरीय शक्तिसम्पन्न हैं। मानव-शरीर-धारण के द्वारा धर्म-जगत् के चरम तत्व में पहुँचने के नवीन नवीन मार्गों का आविष्कार कर वे उन्नत तथा अवनत अवस्था-सम्पन्न पूर्णतया विभिन्न स्वभाव के मानवों के लिए उन मार्गों को बुद्धिग्राह्य बना देते हैं। इन नवीन मार्गों के आविष्कार के लिए विशेष शक्ति की आवश्यकता होती है। अत. उनके शरीर तथा इन्द्रियों का गठन भी उसके अनुरूप ही होता है। उनमें सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन तथा अनुभवादि की धारणा एवं उनके अनुशीलन की शक्ति रहती है। उनके साधन-प्रयासादि भी अलौकिक तथा जगत् के कल्याण के लिए होते हैं, क्योंकि संयम, प्रेम, मुक्ति या मनुष्योपलब्ध ऐसा कोई भी सद्‌गुण नहीं है, जो कि उनके लिए "अनवाप्तमवाप्तव्यम्" हो अर्थात् जो उनमें न हो, एवं जिन्हें प्राप्त करना उन्हें आवश्यक हो। फिर भी वे इस प्रकार के अद्‌भुत कर्मों का ही अनुष्ठान करते रहते हैं। साधारण मानवों का तो कहना ही क्या, मानव-शरीर में देव-तुल्य आप्त पुरुषों के लिये भी वे आदर्श-स्वरूप हैं। आप्त पुरुष भी उनके पदाङ्कों का ही अनुसरण कर आप्त-दशा को प्राप्त होते हैं। फिर भी आप्त पुरुषों को उनके सम्पूर्ण जीवनानुभव प्राप्त नहीं होते, क्योंकि धर्म-जगत् में नवीन तत्व या मार्ग इत्यादि के आविष्कार के लिए आप्त पुरुषों का जन्म नहीं होता। अत अवतारवर्ग के शरीर-मन विषयक अनुभवादि सबसे अधिक विचित्र होंगे, इसमें आश्चर्य ही क्या है! भगवान् श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे, "शक्ति के विकास को लेकर ही सिद्ध पुरुष तथा

अवतारों में भेद हुआ करता है, अन्यथा निर्विकल्प समाधिलब्ध ज्ञान दोनों के लिए एक ही प्रकार का होता है।" कोई तो मायाप्रसूत काम-काञ्चनादि से किसी प्रकार स्वय बचकर मुक्त हो चल देते हैं; और दूसरे, अन्य लोगों को सहायता प्रदान करने के लिए स्वेच्छा-पूर्वक बन्धन पर बन्धन को अङ्गीकार कर स्वय उनके समीप उपस्थित हो उनका बन्धन मोचन कर देते हैं तथा अपने बन्धन को भी इच्छा मात्र से ही हटा देते हैं। भारत के पुराणों ने और कुछ किया हो या न किया हो, किन्तु उन्होंने इन महापुरुषों के अनुभवादि के इतिहास को यथासम्भव लिपिबद्ध करने का प्रयास कर मानव को अमूल्य धन का अधिकारी बना दिया है।

प्रत्येक ईश्वरावतार या आप्त पुरुष के चरित्र की आलोचना हम तीन प्रकार से कर सकते हैं। अविश्वास तथा नास्तिकता की दृष्टि से उनके कार्यों को देखकर या सुनकर उन्हें भण्डधूर्तों की मिथ्याकल्पना या मानवों की व्याधिविशेष मानते हुए उस विषय में विशेष पर्यालोचना किए बिना ही एकदम हम उनकी उपेक्षा कर सकते हैं। अथवा विशेष श्रद्धा से प्रेरित होकर साधारण मानवों से उन महापुरुषों की सम्पूर्ण जाति-गत भिन्नता का अनुमान कर उनके विषय में किसी अपूर्व व्यक्तित्व की धारणा कर सकते हैं। अथवा उनके अस्तित्व में सम्पूर्ण विश्वासी बनकर अ-सक्तबुद्धि सत्यान्वेषी दार्शनिक की दृष्टि से उनके कार्यों की विशेष पर्यालोचना तथा परीक्षा के द्वारा तद्विषयक ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त कर कृतार्थ हो सकते हैं।

इनमें से प्रथम दृष्टिकोण का अवलम्बन करने पर समस्त धर्मे-

तिहास ही मिथ्या हैं, ऐसा मानकर उनकी उपेक्षा करनी पडती है तथा मिथ्या विश्वासादि भी जिस प्रकार गौण रूप से कभी कभी मानव के लिए उपकारी सिद्ध हुए हैं उसी प्रकार पहिले युग में सम्पूर्ण धर्म-विश्वासादि मानव की उन्नति के सहायक होने पर भी वर्तमान समय में उनकी और कोई आवश्यकता नहीं है, यही मानना पड़ता है।

द्वितीय दृष्टिकोण में उन महापुरुषों की उपलब्ध अवस्था तथा अनुभवों को उनकी ही एकमात्र अधिकृत सम्पत्ति माननी पड़ती है, तथा साधारण मनुष्यों के जीवनों में उनका अनुभव सम्पूर्ण असम्भव है, इस सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ता है। एकमात्र भक्तिलाभ करने के उपाय के अतिरिक्त और किसी कारण से उनकी आलोचना व्यर्थ है, यह प्रमाणित कर एवं उनके बारे में निग्रहानुग्रहसमर्थ जीव-विशेष की धारणा उत्पादन कर यह द्वितीय दृष्टिकोण मानव को एकमात्र उनके ही कृपा-प्रार्थी बने रहने की शिक्षा देता है, अथवा यह दृष्टिकोण उनके बारे में यह धारणा उत्पन्न करके कि वे क्रुद्ध-स्वभाव, दण्डदाता, पूजा-लोलुप देवताविशेष हैं, सकाम मानवों को दिन-प्रतिदिन दुर्बलता के मार्ग में अग्रसर कराता रहता है।

असाधारण होने पर भी उनको मानव मानकर तृतीय दृष्टिकोण उनके अनुभवादि को मानवमात्र के लिए महामूल्य जीवन-सम्पत्ति के रूप में समझकर उनको विशेष रूप से अपनाता हुआ मानव को आशान्वित तथा विशेष शक्तिशाली बना देता है। उनकी उच्च गति को देखकर अपनी उच्च गति के बारे में मानव विश्वास करने लगता है तथा वह भी उन समग्र सम्पत्तियों का अधिकारी है, यह समझकर

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३ श्रीरामकृष्णवचनामृत — तीन भागों में–अनु० प सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय संस्करण)—मूल्य ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग—मूल्य ७॥)

४-५ श्रीरामकृष्णलीलामृत — (विस्तृत जीवनी)—(तृतीय संस्करण)– दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६ विवेकानन्द-चरित — (विस्तृत जीवनी) — सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, (द्वितीय संस्करण) — मूल्य ६)

७ विवेकानन्दजी के संग में — (वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि स मूल्य ५।)

८. परमार्थ-प्रसंग — स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपडे की जिल्द, मूल्य ३॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

९ भारत में विवेकानन्द (द्वि स.) ५)
१० ज्ञानयोग (प्र. स) ३)
११ देववाणी (प्र. स) २=)
१२. पत्रावली (प्रथम भाग) (प्र स) २=)
१३ पत्रावली (द्वितीय भाग) (प्र स) २=)
१४ धर्मविज्ञान (द्वि स) १॥=)
१५ कर्मयोग (द्वि स) १॥=)
१६ हिन्दू धर्म (द्वि स.) १॥)
१७ प्रेमयोग (तृ. स) १।=)
१८. भक्तियोग (तृ स) १।=)
१९ आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (तृ स) १।)
२० परिव्राजक (च स) १।)
२१ प्राच्य और पाश्चात्य (च स) १।)
२२ महापुरुषों की जीवनगाथायें (द्वि स) १।)
२३ व्यावहारिक जीवन में वेदान्त (प्र स) १=)
२४ राजयोग (प्र स) १=)
२५ स्वाधीन भारत! जय हो' (प्र स) १=)
२६ धर्मरहस्य (द्वि स) १)

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३ श्रीरामकृष्णवचनामृत — तीन भागों में–अनु० प सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय सस्करण)—मूल्य ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६), तृतीय भाग—मूल्य ७॥)

४-५ श्रीरामकृष्णलीलामृत — (विस्तृत जीवनी)—(तृतीय सस्करण)— दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६ विवेकानन्द-चरित — (विस्तृत जीवनी)— सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, (द्वितीय सस्करण)— मूल्य ६)

७ विवेकानन्दजी के सग में — (वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि स मूल्य ५।)

८ परमार्थ-प्रसग — स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपडे की जिल्द, मूल्य ३॥।)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

९ भारत में विवेकानन्द (द्वि स) ५)
१० ज्ञानयोग (प्र. स) ३)
११ देववाणी (प्र. स) २=)
१२ पत्रावली (प्रथम भाग) (प्र स) २=)
१३ पत्रावली (द्वितीय भाग) (प्र स) २=)
१४ धर्मविज्ञान (द्वि स) १॥=)
१५ कर्मयोग (द्वि स) १॥=)
१६. हिन्दू धर्म (द्वि स) १॥)
१७ प्रेमयोग (तृ स) १।=)
१८. भक्तियोग (तृ स) १।=)
१९ आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (तृ स) १।)
२० परिव्राजक (च स) १।)
२१ प्राच्य और पाश्चात्य (च स) १।)
२२ महापुरुषों की जीवनगाथायें (द्वि स) १।)
२३ व्यावहारिक जीवन में वेदान्त (प्र स) १=)
२४ राजयोग (प्र स) १=)
२५ स्वाधीन भारत! जय हो' (प्र स) १=)
२६ धर्मरहस्य (द्वि स) १)

२७ भारतीय नारी (द्वि स) ।।।)
२८ शिक्षा (द्वि स) ।।=)
२९ शिकागो-वक्तृता (छ स) ।।=)
३० हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि स) ।।=)
३१ कवितावली (प्र स) ।।=)
३२ मेरे गुरुदेव (प स) ।।=)
३३ भगवान रामकृष्ण धर्म तथा सघ (द्वि स) ।।।=)
३४ शक्तिदायी विचार (द्वि स) ।।=)
३५ वर्तमान भारत (च स) ।।)
३६ मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि स) ।।)
३७ पवहारी वावा (द्वि स) ।।)
३८ मरणोत्तर जीवन (द्वि स) ।।)

३९ मन की शक्तियाँ तथा गठन की साधनायें (प्र
४० सरल राजयोग (प्र
४१ मेरी समर-नीति (प्र
४२ ईशदूत ईसा (प्र
४३ विवेकानन्दजी की कथ (प्र. स
४४ विवेकानन्दजी से वात (प्र स

---

४५ वेदान्त—सिद्धान्त औ —स्वामी शारदानन (प्र स
४६ श्रीरामकृष्ण-उपदेश (प्र स

मराठी विभाग

१ २ श्रीरामकृष्ण-चरित्र — प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति)
द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति)
३ श्रीरामकृष्ण-वचनामृत — (पहिली आवृत्ति)
४ श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा — (तिसरी आवृत्ति)
५ शिकागो-व्याख्यानें — (दुसरी आवृत्ति) – स्वामी विवेकानद
६ माझे गुरुदेव — (दुसरी आवृत्ति) – स्वामी विवेकानद
७ हिंदु-धर्माचें नव-जागरण — (पहिली आवृत्ति) – स्वामी विवेकान
८ पवहारी वावा — (पहिली आवृत्ति) – स्वामी विवेकानद
९ कर्मयोग — (पहिली आवृत्ति) – स्वामी विवेकानद